प्रकाशक—

राजेन्द्र गोस्वामी

गिरीश पुस्तक-भण्डार

माईथान, आगरा।
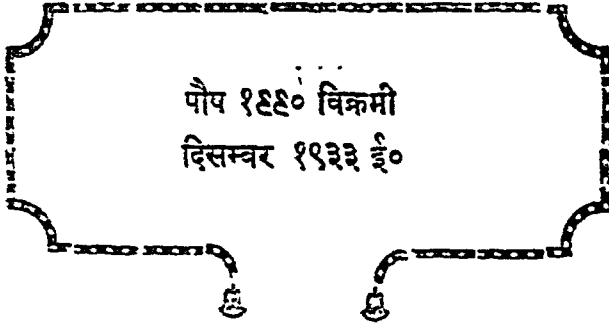
मुद्रक—

राजाराम शर्मा,

आर्यभास्कर प्रेस,

आगरा।

शीर्षक-सूची

निबन्ध और उनके लेखक

१—स्व० श्री स्वामी नित्यानन्दजी महाराज

१—ईश्वरोपासना

२—जीवात्मा

२—श्री महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज

१—प्रकृति

३—श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज

१—ईश्वर-प्रणिधान

२—परमात्मा के दर्शन

३—आत्मा अमर है

४—मानसिक बल

५—विद्या

४—स्व० श्री केशवदेव शास्त्री

१—विश्व पर वैदिकधर्म का प्रभाव

५—श्री प० हरिदत्त शास्त्री, पञ्चतीर्थ, आचार्य महाविद्यालय ज्वालापुर।

१—प्रकृतिवाद या सांख्यवाद

६—प्रिंसिपल श्री बालकृष्ण एम० ए०

१—वेद प्रभु की वाणी है

७—'कल्याण'

१—कल्याण

भूमिका

संसार एक विचित्र पहेली है, इसमें प्रत्यक्ष रूप से दो प्रकार की सत्ताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। एक गतिमान दूसरी गतिशून्य अर्थात् जड़ और चेतन। जड़ जगत् में परिवर्त्तन होता रहता है और उस परिवर्त्तन में किसी प्रयोजन की सिद्धि प्रतीत होती है। उत्पत्ति, वृद्धि और नाश का चक्र चलता ही रहता है। विज्ञान भले ही कुछ कहे, किन्तु जड़ और चेतन का भेद मिट नहीं सकता। पाश्चात्य विज्ञान वेत्ताओं ने जड़ चीजों के संमिश्रण द्वारा जीवनी शक्ति उत्पन्न करने का उद्योग किया, परन्तु वे उसमें असफल रहे। चेतन जगत् में जीव अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। जड़ जगत् में उसे कर्म-क्षेत्र मिल जाता है, जहाँ वह जड़ वस्तुओं का उपभोग करता है। कर्म-फल भोगने में जीवों की दशा में अवस्था भेद रहता है, और सहज ही में अनुमान किया जा सकता है, कि जीव स्वयं अपनी शक्ति और इच्छा से कर्मों का फल प्राप्त नहीं कर सकता। इन समस्याओं को हल करने के लिए संसार में अनेक वाद प्रचलित हुए, कोई तो केवल प्रकृति की सत्ता को मानते हैं और चैतन्य जगत् को केवल प्राकृतिक शक्तियों का विकसित रूप समझते हैं। उनकी सम्मति में यह गति प्राकृतिक शक्तियों का एक रूप मात्र है, और यह चक्र प्राकृतिक नियमानुसार चलता रहता है। कुछ लोग ब्रह्म की सत्ता ही मानते हैं। जीव को ब्रह्म का माया-लिप्त स्वरूप और प्रकृति को उसकी लीला समझते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो इनमें से किन्हीं दो सत्ताओं को स्वीकार करते हैं। परन्तु संसार में वैदिक-धर्म के अतिरिक्त ऐसा कोई वाद नहीं है, जो ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों शक्तियों को अनादि और अनन्त मानता हो। जड़ जगत् का परिवर्त्तन दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ेगा, कि कोई वाह्य

शक्ति है जो परमाणुओं को मिलाती और उन्हें पृथक् करती रहती है। यह शक्ति महान्, चेतन और बुद्धि रखने वाली है, जिसके प्रबन्ध से प्रयोजन विशेष सिद्ध होते रहते हैं। इसी प्रकार यह मानना पड़ेगा, कि जीवों को कर्म-फल देने और उनके भोग को मर्यादा के अन्तर्गत रखने के लिए एक तीसरी शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है। सृष्टि का रचयिता तथा जीवों का कर्मफलदाता होना ऐसे गुण हैं, जिनमें परमात्मा के सभी गुणों का समावेश हो जाता है। तीनों सत्ताओं का अनादि सिद्ध करना और उनका पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे यह वाद (Theory) संसार के वादों में सम्मिलित हो सके। वाद का रूप धारण करने के पश्चात् इसे सिद्धान्त का रूप दिया जा सकता है, और वह क्रियात्मक रूप से सिद्ध किया जा सकता है।

इस पुस्तक में संपादक ने ईश्वर, जीव और प्रकृति के संबन्ध में बड़े उच्चकोटि के उत्तम लेखों और विचारों का संग्रह किया है। अधिकांश लेखों में धर्मशास्त्र और तर्क के आधार पर ईश्वर, जीव और प्रकृति की सत्ता अनादि सिद्ध करने का उद्योग किया गया है, और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी दिखलाया गया है। पुस्तक स्वाध्याय के लिए बहुत उपयोगी है, प्रत्येक वैदिकधर्मी को इससे लाभ उठाना चाहिये।

पूर्णचन्द्र एडवोकेट।

दो शब्द

आज कल आर्यसमाज में स्वाध्याय की बहुत कमी है। उसमें भी दार्शनिक विषयों की ओर तो प्रायः लोगों की रुचि ही नहीं होती। ईश्वर क्या है, जीव किसे कहते हैं, प्रकृति का प्रकृतार्थ क्या है इत्यादि बातों पर विचार करना तो आजकल एक व्यर्थ-सी बात समझी जाती है। जिन विषयों का मनुष्य-जीवन के साथ सबसे अधिक सम्बन्ध है, उन्हीं की उपेक्षा होना कम दुःख की बात नहीं है। आध्यात्मिक विषयों का मनुष्य जितना ही मनन करता है उसकी आत्मा को उतनी ही शान्ति उपलब्ध होती है। यों तो अध्यात्मवाद से बड़े बड़े ग्रन्थ भरे पड़े हैं। वेद उपवेद, ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद् इन्हीं तत्त्वों का उपदेश देते हैं। परन्तु इन सब को समझने के लिए न लोगों के पास समय है और न देववाणी संस्कृत में उनकी इतनी गति है, जो वे इन ग्रन्थों को अपने दैनिक स्वाध्याय में सम्मिलित कर सकें। अध्यात्मवाद के मूल सिद्धान्त साधारण जनता को सरलता पूर्वक समझाने के लिए कभी-कभी पूज्य साधु-महात्मा और माननीय विद्वानों के लेख प्रकाशित होते रहते हैं, जिनमें इस प्रकार के गहन विषयों की विवेचना बड़ी सुन्दर और सरल रीति से की जाती है। इस विशद विवेचना से उन पाठकों को बड़ा लाभ होता है, जो थोड़े ही में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाषी रहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ पूज्य विद्वानों के ऐसे ही निबन्धों का संग्रह किया गया है। इन लेखों के पाठ से ईश्वर, जीव और प्रकृति की

वास्तविकता समझने में पाठकों को बड़ी सहायता मिलेगी। निबन्धों के लेखक प्रायः उच्चकोटि के विद्वान् और अनुभवी विचारक हैं। उन्होंने जो बातें कही हैं, बड़े सुलझे हुए ढंग में कही हैं। पन्ने पलटते जाइये, आपकी तबियत ऊबेगी नहीं बल्कि उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जायगी। त्रैतवाद जैसे गूढ़ और शुष्क विषय को इस प्रकार सरल और सुबोध बना देना कोई साधारण बात नहीं है। इस कौशल के लिए विद्वान् निबन्ध-लेखकों की जितनी प्रशंसा की जाय, और जितना उन्हें साधुवाद दिया जाय, कम है।

जिन पूज्य महानुभावों के लेख 'ब्रह्मविज्ञान' में संगृहीत किये गये हैं, उनके एक-एक अक्षर के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। सच तो यह है, कि जो कुछ इस पुस्तक में है, वह इन विद्वान् लेखकों ही की विभूति है, मेरा उसमें कुछ नहीं है। मैं उन अमूल्य निबन्ध-रत्नों को पुस्तक के रूप में पाठकों तक पहुँचाने वाला एक साधारण साधन मात्र हूँ। आशा है, स्वाध्याय-शील जनता इस ग्रन्थ को अपनाकर उसका उचित आदर करेगी और पूज्य साधु-महात्माओं और विद्वानों के कल्याणकारी उपदेशों से यथोचित लाभ उठावेगी। मैं 'ब्रह्म-विज्ञान' के विद्वान् लेखकों के चरणों में एक बार फिर कृतज्ञता के भाव प्रकट करता हूं।

पूज्य महात्मा नारायणस्वामीजी और श्री प० हरिदत्तजी शास्त्री 'वेदतीर्थ' ने मेरी प्रार्थना पर विशेष रूप से लेख लिखने की कृपा की है। इसके लिए मैं आप महानुभावों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

विनीत—

नारायण गोस्वामी
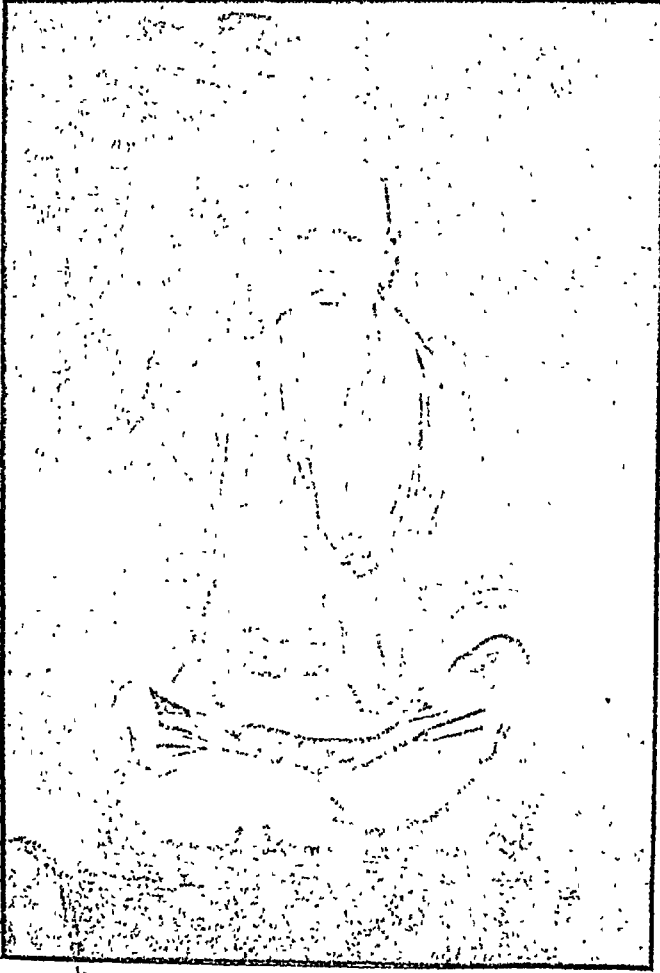
पूज्यपाद महात्मा श्री नारायण स्वामीजी महाराज।

ईश्वर

ईश्वरोपासना

इस सृष्टि में विविध प्रकार के मनुष्य दृष्टि पड़ते हैं। स्वभाव, आचार, विचार, कर्त्तव्य, आकृति इत्यादि विषयों में भिन्नता देखने में आती है। प्रत्येक विषय में प्रत्येक का ज्ञान और समझ भिन्न भिन्न होती है। जैसे इस जगत् में ईश्वर का मानने वाला होता है वैसे ही कितने ही नास्तिक पन्थानुयायी भी होते हैं। कितने ही लोग ईश्वर का अस्तित्व अन्तःकरण पूर्वक नहीं मानते, किन्तु संसार के लोक व्यवहार के अनुसार चलने के लिए मानते हैं। कई लोगों की ऐसी द्विधा समझ होती है कि वे लोग न यही

मानते हैं कि ईश्वर है और न यही मानते हैं कि ईश्वर नहीं है। कई लोगों का मत ऐसा होता है कि वे अन्तःकरण से तो ईश्वर को नहीं मानते; पर लज्जा के भय से वे ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कई लोग कहते हैं कि "ईश्वर है या नहीं" इस विषय में वादविवाद करके व्यर्थ मन को कष्ट देने से क्या लाभ? जब इस विषय में मनुष्यों के ऐसे भिन्न भिन्न मत हैं तब, ईश्वरोपासना विषय के ऊपर लिखने से पहले इसका निर्णय करना चाहिये कि ईश्वर है या नहीं; क्योंकि यदि ईश्वर ही न हो तो उपासना किस की कीजाय? इसलिए पहले यह जांच करना चाहिये कि इस जगत् में ईश्वर है या नहीं।

न्यायालय में "अमुक बात ऐसी है" यह सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। और "अमुक बात ऐसी नहीं है" इसके लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। चोरी का अभियोग साबित करने के लिए पास प्रमाण होना चाहिये। "मैं अमुक समय अमुक स्थान में था" ऐसा प्रमाण यदि वह लावे तो विरुद्ध पक्ष वाले को उसके सम्बन्ध में प्रमाण देना चाहिए, इसी प्रकार ईश्वर न मानने वाले को यद्यपि विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं, तथापि "वह नहीं है"—यह सिद्ध करने के लिए उसके पास अच्छा प्रमाण होना चाहिए।

यथा घटादि कार्यं सकर्तृकं तथा क्षित्यंकुरादिकमपि तत् कर्तृत्वकर्मदादि नाम संभवति तत् कर्तैव नेश्वरसिद्धिः॥

हमारे नैयायिक लोग ईश्वर के अस्तित्व के लिए अनेक

प्रमाण मानते हैं। कर्त्ता के बिना कोई भी बात बनी हुई इस जगत् में नहीं दृष्टि पड़ती। कुम्हार के बिना घड़ा कैसे बन सकता है? बिना कर्त्ता के कोई भी कार्य नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। हमें जो इतना बड़ा तेजस्वी प्रचण्ड सूर्य दिखाई देता है, उसका बनाने वाला क्या कोई नहीं होना चाहिये। क्या यह आप ही आप हुआ होगा? नास्तिक लोग ऐसा मानते हैं। वे ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि "जब सूर्य बना ही नहीं, अर्थात् स्वयं सिद्ध है, तब उसके बनाने वाले की क्या आवश्यकता?" उनकी यह युक्ति कहाँ तक सत्य है— इसकी जांच अब हमें करनी चाहिये।

मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में लिखा है कि "अपने तर्क-वितर्क से ही सत्य का निर्णय करो "बाबा वाक्यं प्रमाणं" यह सत्य प्रमाण नहीं है। इसके अनुसार चलना छोड़दो। इसी प्रकार मैं तुम से यह भी आग्रह नहीं करता कि अमुक एक बात अमुक पुस्तक में लिखी है, उसको तुम सच मानो। और यदि ऐसा कोई करे भी तो यह बात मुझे प्रिय भी नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जब हमारी पक्की खातिरी हो जाय तभी उसे सच मानना चाहिये। सिर्फ वेद पर ही अपना सारा विश्वास न छोड़ देना चाहिये। अच्छा इस जगत् की उत्पत्ति के विषय में पहले हमें विचार करना चाहिये।

पदार्थ विद्या, सृष्टिक्रमशास्त्र, भूगर्भ विद्या, इत्यादि शास्त्रों के देखने से मालूम होता है कि, इनमें जो कुछ कहा गया है, वह

सप्रमाण है। इन पुस्तकों में मतमतान्तर देखने में नहीं आते। न्यायशास्त्र सिद्ध करता है कि—

कारणाद्विना कार्यं नोत्पद्यते इति

अर्थात् जैसे घर बनाने के लिए कुम्हार की आवश्यकता है, कुम्हार के विना वह नहीं बनता, वैसे ही इस पृथ्वी को बनाने के लिए कुम्हार की तरह कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये। वह आप ही आप स्वयं नहीं बन सकती।

जिस पृथ्वी पर हम निवास कर रहे हैं वह पृथ्वी असंख्य परमाणुओं के संयोग से बनी है। चाहे कोई पदार्थ हो, उसका एकीकरण अनेक परमाणुओं के सम्मिलन से ही होता है, जैसे फौलाद अनेक परमाणुओं से बना हुआ है वैसे ही हीरा भी परमाणुओं से ही बना हुआ है। इस जगत् में ऐसी एक भी चीज़ नहीं है कि जो परमाणुओं के बिना बना हो; अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रथम से परमाणु रूप होती है। पर जब उसका एक जगह संयोग होता है तब वह पूर्ण स्वरूप धारण करती है। भिन्न भिन्न रहने वाले परमाणुओं का एकत्र होना और एकत्र हुए परमाणुओं का अलग होना, ये दो स्वतंत्र क्रिया हैं। यदि उनका वियोग न हो तो उनका संयोग भी नहीं होता; और यदि संयोग न हो तो वियोग भी नहीं हो सकता। अर्थात् यह स्पष्ट है कि किसी एक समय में पृथ्वी के परमाणु अलग अलग थे। और वे यदि ऐसे न होते तो एकत्र भी न होते। और ऐसी दशा में, जिस पृथ्वी पर हम आज वास कर रहे हैं वह अस्तित्व में

भी न आई होती। जैसे गेहूं के आटे में पानी डाल कर जब हम उसे गूंधते हैं तब उस कणिक का लोंदा हो जाता है। बस, यही हाल इस पृथ्वी का भी समझना चाहिये। प्रारम्भ में असंख्य परमाणु थे, वे किसी न किसी साधन से एकत्र हुए हैं, और वह कृति, जो आज प्रत्यक्ष देखते हैं, उसका कर्त्ता कोई न कोई अवश्य ही होना चाहिये। यह निर्विवाद है। फ़िज़िकल साइन्स और वेद इन दोनों की इस विषय में बहुत बड़ी समता देखने में आती है। परमाणु अनादि हैं? ऐसा उनमें कहा है। वे उत्पत्ति और नाश से रहित हैं। सूर्य भी परमाणुओं से ही बना है। अविद्वान् लोगों को यह उपर्युक्त कथन ठीक न जान पड़ेगा। तथापि शास्त्र शिक्षित लोगों को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि अलग अलग रहे हुए परमाणु मिल सकते हैं, और संयुक्त हुए परमाणु अलग अलग होते हैं।

नास्तिक लोग भी पृथ्वी का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। ऐसा कोई भी न मिलेगा जो यह मानता हो कि पृथ्वी का अस्तित्व नहीं। जैसे जलतत्व के तीन रूपान्तर (बर्फ़ पानी और भाफ़) होते हैं वैसे ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तेज इत्यादि सबके थोड़े बहुत प्रमाण में रूपान्तर होते हैं। सांख्यशास्त्रकार ने कहा है कि यह पृथ्वी प्रारम्भ में प्रकृति स्वरूप में थी। तदनन्तर वायवी दशा में, अर्थात् हवा के स्वरूप में आई। इसके बाद वह गोलाकार स्वरूप हुई। पदार्थ विज्ञान शास्त्र में भी ऐसा ही वर्णन किया गया है। इससे यह सिद्ध हो सकता है कि यह पृथ्वी एक बार बनी है।

विद्वान् नास्तिक लोग भी यह बात स्वीकार करते हैं। आज कल के नास्तिक लोगों का बड़ा विचित्र हाल हो रहा है। एक दो अँग्रेजी विद्वानों के ग्रन्थ पढ़कर ये चतुर लोग, अपने पूर्वजों के इस विषय के ऊपर बनाए हुए ग्रन्थों की ओर बिलकुल ध्यान न देते हुए, यह कहते हैं कि यह सृष्टि कुदरत (नेचर) से ही बनी है। वह आप ही आप निर्माण हुई है। उसका बनाने वाला कोई नहीं। और वह किसी से बनाई भी नहीं गई। बिना कर्त्ता के इस संसार में कोई वस्तु नहीं मिल सकती। "बाप नहीं, मैं हूँ" यह कहना जैसे मूर्खता से खाली नहीं वैसा ही उपर्युक्त कथन भी समझना चाहिये। पृथ्वी का बनाने वाला कोई न कोई होना ही चाहिये। यह निर्विवाद है। यह बात मैं मानता हूँ कि लोह चुम्बक में जैसे आकर्षण शक्ति है वैसेही इस पृथ्वी के परमाणुओं में भी आकर्षण शक्ति है। *

इस लिए पदार्थ में वजन होने के कारण से ही कोई वस्तु पृथ्वी पर नहीं गिरती। किन्तु सिर्फ़ पृथ्वी के आकर्षण से ही वह

---

* आज कल जो लोग कहते हैं कि गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार न्यूटन ने किया सो न्यूटन को हुए तो अभी लगभग चार ही सौ वर्ष हुए—हमारे यहाँ यह विद्या बहुत प्राचीन काल से मालूम है, अर्थात् प्रकट है। वेद की बात तो जाने ही दीजिए। हाल के ही ग्रन्थ देखने से आप को विश्वास हो जायगा, भास्कराचार्य के सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ को बने लगभग ११०० वर्ष हुए, इसके पहले यह विद्या हमारे लोगों को अवगत होनी चाहिये।

नीचे आती है। इस विषय का अनुभव हमको उत्तर ध्रुव प्रदेश में अच्छा मिल सकता है। हवा से, अन्न से, और दूसरे अन्य कारणों से हृष्ट पुष्ट और शुष्क होने वाले मनुष्य का उदाहरण न लेते हुए एक लोहखण्ड का ही उदाहरण लीजिए। उसके वजन में किसी प्रकार का फेरफार नहीं हो सकता। जिस लोहखण्ड का वजन यहाँ एक सेर होता है उसका उत्तरध्रुव के पास डेढ़ सेर हो जाता है। इसका कारण क्या है? आकर्पण को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं। यहाँ पदार्थ का मध्याकर्पण होने से उसके वज़न में वृद्धि नहीं होती। पर ध्रुव के पास विशेप आकर्पण होने के कारण वज़न में वृद्धि होती है। इस से स्पष्ट है कि पृथ्वी के परमाणुओं में आकर्पण शक्ति है।

पदार्थ विद्या जानने वाले नास्तिक लोग कहते हैं कि "परमाणुओं में आकर्षण शक्ति होने के कारण वे एकत्र हुए हैं। इस कथन में क्या शंका हो सकती है? एकत्र करने में दूसरे की क्या आवश्यकता है?" उनका यह कथन ऊपर ऊपर से सच मालूम होता है। पर इस विषय में सूक्ष्म विचार करना चाहिये। जब परमाणु पास पास होते हैं तभी वे आकर्षण कर सकते हैं। यदि वे दूर होते हैं तो आकर्पण नहीं कर सकते, और न एकत्र हो सकते है। अच्छा, हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि वे

यह सभीविद्वान् पुरुप स्वीकार करेंगे। अब कहो कि गुरुत्वाकर्पण का आविष्कार न्यूटन ने कैसे किया? अपना सोना तो पीतल; और दूसरे की पीतल की सोना मान बैठने वालों की बुद्धि को बलिहारी!!

दूर दूर नहीं रहते, किन्तु पास पास होते हैं। परन्तु जब कि वे परमाणु एकत्र हुए हैं तब किसी न किसी समय वे अलग अवश्य होंगे। क्योंकि अलग अलग हुए बिना एकत्र हो नहीं सकते। यह हम पहले ही निश्चित् कर चुके हैं। तब क्या उनका अलग अलग करने वाला कोई नहीं होना चाहिये। क्या जैसे उनमें आकर्षणशक्ति है वैसे ही उनमें अलग अलग होने की भी शक्ति है? परन्तु यह शक्ति उनमें नहीं हो सकती; यह अनुभव-सिद्ध-बात है। इससे सब को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, उनको अलग अलग करने के लिए किसी न किसी की आवश्यकता है। पृथ्वी के परमाणुओं में आकर्षणशक्ति होने के कारण वे आप ही आप कदापि अलग अलग नहीं हो सकते। नास्तिक लोग इस जगह ऐसी शंका करते हैं कि, "परमाणु अलग अलग करने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं, हवा उनको अलग अलग करती है।" उनका यह कथन कहाँ तक सच है, यह देखने के पहले यह विचार करना चाहिए कि हवा क्या चीज़ है?

आज कल की साइन्स विद्या से हमारे देखने में आता है कि, हवा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। तथा वह आप ही आप नहीं उत्पन्न हो सकती। हवा का घेरा असीम है। यहाँ तक जाना गया है कि १२ योजन पर्यन्त वायु सघनता से भरी हुई है। इसके बाद हम ज्यों ज्यों ऊपर जाते हैं त्यों त्यों हवा धीरे धीरे कुछ हलकी होती जाती है। नीचे की जड़ (भारी) हवा के साथ जब सूर्य बिम्ब का सम्बन्ध होता है, तब वह तप्त (हलकी)

होकर धीरे धीरे ऊपर चढ़ती है, ऐसे ही चलन चलन से वायु उत्पन्न होती है। इस से हमें स्पष्ट जान पड़ता है कि हवा आपही आप उत्पन्न नहीं होती; किन्तु उष्णता से ही उत्पन्न होती है। जब उष्णता ही हवा होने का कारण है तब पहले यह निर्णय करना चाहिए कि उष्णता क्या है और उसका कारण क्या है।

उष्णता अर्थात् अग्नि के उत्पन्न होने के लिए घर्षण की आवश्यकता है। किसी पदार्थ के घर्षण के बिना अग्नि कदापि उत्पन्न नहीं होती। यह अंग्रेज़ी शास्त्रकारों का कथन है, और हम में से प्रत्येक का ऐसा ही अनुभव भी है। पृथ्वी के परमाणुओं के एकत्र होने के पहले उनको अलग अलग होना चाहिए। और उनको अलग अलग करने के लिए हवा की आवश्यकता है, ऐसा नास्तिक लोगों का कथन है। परन्तु हवा के उत्पन्न होने के पहले उष्णता की आवश्यकता है; और घर्षण के बिना उसकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, तथा घर्षण भी कुछ आप ही आप हो नहीं सकता। उसके होने के लिए भी किसी की आवश्यकता होनी ही चाहिए, घर्षण साधन न हो तो अग्नि अर्थात् उष्णता उत्पन्न नहीं हो सकती। उष्णता के बिना वायु अर्थात् हवा का जनन नहीं हो सकता। और जब हवा नहीं तब पृथ्वी की उत्पत्ति भी असंभव है। इससे स्पष्ट है कि, घर्षण साधन अवश्य होना ही चाहिए। गति के बिना उष्णता बिलकुल उत्पन्न नहीं हो सकती। इस गति की उत्पत्ति कहाँ से है—सो अंग्रेजी शास्त्रकार नहीं कह सकते। यहां उनका साहस छूट जाता है, और इस

गति के विषय में उनकी मति काम नहीं देती। उनको आज तक ६६ तत्त्वों का पता लगा है। उनका शास्त्र आज तक बाल्यावस्था में ही है। ईश्वर के सम्बन्ध में उनको आज तक कुछ भी ज्ञान न था। आज तक वे यह मानते थे कि, पृथ्वी के आस पास ४८ मील तक वायु घिरी हुई है, और सूर्य किरण के आधार से वह नीचे आती है। इस ४८ मील के आगे क्या है, इसकी उन्हें कल्पना भी न थी। पता लगाते लगाते उन्हें ज्ञात हुआ है कि, हवा से व्यतिरिक्त ईथर के समान कुछ पदार्थ है। परन्तु ईथर विषयक ज्ञान हमारे लोगों को बहुत प्राचीनकाल से था। "ईथर" अर्थात् आकाश और 'व्याक्युम' अर्थात 'शून्य'। हमारे आज कल के लोगों को संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण सच्चा अर्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आता। पर हमारे पूर्वजों को बहुत प्राचीनकाल से इस विषय का पूर्ण ज्ञान था। अब आज कल के यूरोपियन पंडित भी अवश्य ही इस विषय में कुछ समझने लगे हैं।

हमारे शास्त्रों में इस गति के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। उपनिषद् में नचिकेता ने जब अपने गुरु यमाचार्य से जब यह प्रश्न किया कि यह गति किस प्रकार उत्पन्न हुई, तब गुरुजी ने उत्तर दिया, कि जिस शक्ति से इस गति का प्रादुर्भाव हुआ है उसके प्रकाशित करने में सूर्य, चन्द्र या अग्नि इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं है, उसे आप ही आप स्वयं जानना चाहिये। हमारे शरीर के अन्दर ऐसी एक शक्ति है, कि जिसके योग से प्राणी का

सारा व्यवहार चलता है। उसी के अस्तित्व से ये सारी इन्द्रियाँ योग्य स्थिति में रहती हैं। उसी प्रकार इस संसार रूपी देह में परमात्मा की एक शक्ति विचर रही है। उसके द्वारा इस दृश्य विश्व में अखिल, व्यापार सरलता से चलते रहते हैं। ऊपर कही हुई शक्ति यदि शरीर में न हो तो जिस प्रकार ऊपर का सारा व्यापार बन्द हो जाय वैसे ही परमात्मा रूपी शक्ति का यदि अभाव होजाय तो विश्व का सारा व्यापार उलट पुलट होजाय। और कोई भी व्यवहार योग्य रीति से न चल सके।

यह जो विशिष्ट शक्ति है वह चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर नहीं होती। उसे देखने के लिए दूसरे अर्थात् दिव्य चक्षुओं की ही आवश्यकता है। विश्व यह एक बड़ी भारी घड़ी है, वह अपने कार्य में कभी भूल नहीं करती। तथापि उसमें चावी देने वाले की जरूरत तो है ही, जैसे मनुष्य कृत घड़ी चावी दिए बिना नहीं चलती और यदि चावी न दी जाय तो वह बिगड़ जाती और बन्द हो जाती है; अथवा अनियमितपन से चलती है यही हाल इस विश्वरूपी घड़ी का भी है। एञ्जिन चलाने के लिए ड्रायवर होना ही चाहिए। उसके बिना रेलगाड़ी नहीं चल सकती। इसी प्रकार इस पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह आदि सब को चलाने के लिए कोई न कोई होना ही चाहिए। मनु महाराज ने कहा है कि:-

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।

परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा है:-

अणोरणीयान्महतो महीयान् ।

परमात्मा से सूक्ष्म इस जगत् में कोई भी नहीं। इससे किसी को यह न समझना चाहिए कि वह राई अथवा सुई के अग्र भाग के समान है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान है। पृथ्वी से सूक्ष्म जल है। जल से सूक्ष्म हवा और हवा से सूक्ष्म आकर्षणशक्ति है। वह आकर्षणशक्ति निराकार, सूक्ष्म और व्यापक है। उसी प्रकार ईश्वर भी निराकार व्यापक, और सूक्ष्म है। वेद में भी यही कहा है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ॥
तस्मिन्निदथ्ं सञ्च वि चैति सर्वथ्ंस ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥

परमेश्वर को तू शक्ति से पहचान! वह परमेश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। जिस प्रकार ईथर और व्याक्युम सब जगह हैं उसी प्रकार उसका अस्तित्व सर्वत्र है। भगवद्-गीता में कहा है कि ब्रह्मानन्द सुख अतीन्द्रिय है। अवश्य ही इस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। आत्यन्तिक अतीन्द्रिय ब्रह्मानन्द सुख बुद्धि से ही जानने में आता है। जिस प्रकार तड़ित् विद्युत सर्वत्र है, उसी प्रकार ईश्वर सर्वत्र प्रकाशरूप भरा हुआ है। मनु महाराज ने उस परमात्मा को "स्वप्नाधिगम्यं" वर्णन किया है। समाधि से ही उसे जान सकते हैं। गहन विषयों का चित्त एकाग्रता के बिना आकलन नहीं हो सकता। तब फिर परमात्मा जो सब से सूक्ष्म है, चित्त की अत्यन्त शान्ति के बिना

कैसे जाना जा सकता है ? समाधि ज्ञान विना परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता।

भिन्न भिन्न चार प्रकार के लोग प्रकार-चतुष्टय से ही सर्व-शक्तिमान् ईश्वर को जान सकते हैं। योगी लोग प्रत्यक्ष अनुभव से परमेश्वर को देखते हैं, वही अच्छी तरह देख सकते हैं। तार्किक लोग अनुमान से यह मानते हैं कि ईश्वर है। वे कहते हैं:—

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हिः।

इस न्याय से इस जगत् का बनाने वाला कोई न कोई होना ही चाहिए। विद्वान् लोग शाब्दिक प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते आये हैं, और अब भी स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार व्याक्युम और ईथर सर्वत्र हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी सर्वत्र व्याप्त है। आकाश की व्याप्ति सब से विशेष है उसी प्रकार परब्रह्म सर्व व्याप्त है—ऐसा औपमानिक लोग मानते हैं।

जब हम हिमालय पर्वत पर बसते थे तब एक कन्द हमारे खाने में आई थी। उसकी मिष्टता इतनी अपूर्व थी कि तुम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। मिष्टता के विषय में तुम को हमारे कहने में शाब्दिक ज्ञान हुआ; परन्तु कुछ अनुभव नहीं हुआ। इसी तरह केवल मात्र शाब्दिक ज्ञान से ईश्वर का पूर्ण स्वरूप मालूम नहीं हो सकता। उपनिषद् में भी कहा है:—

नैषा तर्केण मतिरपनेया।

केवल तर्क से ईश्वर का सच्चा स्वरूप समझ में नहीं आता। इस सम्बन्ध में जब तक अहर्निश ध्यान न धरा जाय तब तक

इस विषय का पक्का खोज मिलना दुर्लभ है। आजकल के व्यावहारिक तार (टेलिग्राम) के उदाहरण पर से तुम्हारी समझ में आवेगा कि केवल तर्क से यह विद्या जानी नहीं जा सकती। यह विद्या जानने के लिए इस विषय का सब प्रकार का ज्ञान पहले सीखना चाहिए। तभी सच्ची स्थिति अपनी समझ में आ सकती है। बस, इसी तरह ईश्वर विषय भी केवल तर्क से जानने में नहीं आता, हमारे ऋषिवर्यों ने रात और दिन, क्या जङ्गलों में, क्या पर्वतों की गुफाओं में, शीत, ताप, वृष्टि आदि दुःख सहकर, कन्द मूल भक्षण करके, जो जो आविष्कार आज तक अन्य लोगों ने नहीं कर पाये वे करके, जो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है, उसकी तरफ़ हमारे नवयुवकों का थोड़ा बहुत ध्यान जाना चाहिये—यह हमारी उनसे विनती है। उन महर्षियों के बतलाए मार्ग को तुम पकड़ो। इसी मार्ग से तुम्हारा और सबका उस परमात्मा के साथ मिलाप होगा।

बुद्धिमान लोगों ने यह कहा है कि, जगत् के सब सुख ब्रह्मानन्द सुख के आगे तुच्छ हैं। मनुष्य मात्र इस संसार के तुच्छ सुखों में आनन्द मानते हैं और उसके दास बन कर रहते हैं। उन्हें यदि ब्रह्मानन्द पाने का अवसर आवे तो वे इस आनन्द को कभी न भूलें। हम रात दिन चैतन्य सागर में निमग्न रहते हैं, तथापि उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं होता। हम कोरे के कोरे ही रहते हैं। परमात्मा किसी एक जगह चुप नहीं बैठा है। वह सर्वत्र व्याप्त है। सूर्य का प्रकाश उसी को दीख पड़ता है

जिसकी आँखें ठीक होती हैं। और जैसे अन्धे मनुष्य को वह नहीं देख पड़ता उसी प्रकार सर्वव्यापक परब्रह्म हमारे समान ज्ञानान्धों को नहीं देख पड़ता। परब्रह्म जानने वाले को जिस ब्रह्मानन्द का लाभ होता है उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। परब्रह्म को जानने के लिए वेद में सब से उत्तम मार्ग दर्शाया गया है। उसमें परमेश्वर की उपासना एक भाग है। चित्त स्थिर करने के लिए उपासना करनी पड़ती है। दूसरा मार्ग-ज्ञान का है। अज्ञान को दूर करने के लिए वेद में ज्ञान की आवश्यकता बतलाई गई है। इस मार्ग से पहले एक मार्ग कर्म काण्ड का वेद में दिखलाया गया है। श्मशान वैराग्य का अनुभव यद्यपि प्रत्येक मनुष्य को होता है, तथापि खेद की बात है कि, मनुष्य दुष्ट कृत्य करने से परांमुख नहीं होता। जिसका मन ऐसा है, उसको उस पाप से परावृत करने के लिए और धर्माचरण से चलाकर शुद्ध करने के लिए वेद में कर्मकाण्ड का विधान किया गया है, पाप से परावृत होकर जब मन शुद्ध हो जाता है, तब उसे स्थिर करने के लिए आगे उपासना का मार्ग बतलाया गया है। मन अति चंचल है। क्षण में वह यहाँ से कलकत्ते पहुँचता है, और क्षण में वह सारी पृथ्वी पर भ्रमण कर आता है। प्रत्येक मनुष्य यही इच्छा रखता है कि हम बड़े भारी बादशाह हो जायँ। तात्पर्य यही कि तृष्णा प्रति दिन तरुण होती जाती है, वह कभी शान्त नहीं होती। बस यही मन की चंचलता दूर करने के लिए उपासना का साधन वेद में बतलाया है। कर्ममार्ग

से शुद्ध हुआ मन उपासना से जब स्थिर हो जाता है, तब उसके बाद ज्ञान मार्ग बतलाता है। इन मार्ग से जाने वाले को परमात्मा की प्राप्ति अवश्य होती है, और उसी से ब्रह्मानन्द का अपूर्व सुख प्राप्त होता है।

उपासना का अर्थ होता है "समीप स्थित होना" यह चंचल मन जब एक पल भर भी एक जगह में स्थित नहीं हो सकता तब इसको परब्रह्म का स्वरूप कैसे समझ पड़े? पतंजलि ऋषि ने कहा है कि:—

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः

चित्तवृत्ति का स्थिर करना योग है। हमारे ऋषिगण बड़े परमार्थी थे। वे हमारे लिये अनेक श्रम सहकर परमात्मा की पहचान का मार्ग बतला गए हैं। उन्होंने जो यह श्रम किया है, उसमें उनकी स्वार्थबुद्धि कुछ भी दिखाई नहीं देती। सिर्फ परोपकार के लिए निरपेक्ष बुद्धि से उन्होंने इतना असह्य कष्ट सहन करके हमें सुमार्ग दिखलाया है, इसके लिये हमें उनका कितना उपकार मानना चाहिये? हमें उनका कितना आभारी होना चाहिये, और उस मार्ग का अवलम्बन करके यदि हम न चलें तो हमारे समान कृतघ्न और कौन हो सकता है।

महामुनि पतंजलि ने योगशास्त्र में कहा है कि:—

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहारधारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,

ध्यान, समाधि—यह योग के आठ अंग हैं। इनमें यम के पाँच प्रकार हैं:—हिंसा न करना, चोरी न करना, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य-व्रत पालना, अपरिग्रह-अर्थात् अन्याय से दूसरे की वस्तु न लेना। नियम के भी पांच प्रकार हैं:—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। ईश्वर प्रणिधान का मतलब यह है कि यह सारा वैभव उसीका है, हमारा कुछ नहीं, सब का स्वामी परमेश्वर ही है। प्रकृति भी उसी की है। यह शरीर भी अपना नहीं, सिर्फ़ यह थोड़े दिन के लिए हमें मिला है। हमें जो कुछ मिला है सब इसी लिए कि उसका उचित उपयोग किया जाय। दूसरे की बहन-बेटी को अपने समान जानना। उसके विषय में पाप बुद्धि से न देखना। इसी प्रकार जो धन हमको मिला है, वह व्यभिचार या दुष्ट व्यसन-वासनाओं को पूर्ण करने के लिए नहीं मिला है—किन्तु वह उचित विनियम करने के लिए ही मिला है। ऐसा सब मनुष्यों को समझना चाहिये। हम इस धन के स्वामी नहीं, हम तो सिर्फ़ रक्षक हैं। सारे वैभव को ऐसा ही समझना। इसी का नाम ईश्वर प्रणिधान है।

यम नियम के बाद योग का तीसरा अङ्ग आसन और चौथा अङ्ग प्राणायाम है। प्राणायाम का मतलब है, श्वासोच्छ्वासगति का विच्छेद। प्राणायाम के विषय में बहुत लोग योग्य जानकारी नहीं रखते। अनेक लोग हाथ पर हाथ ठोंक कर नाक पकड़ कर बैठ जाते हैं। इसे प्राणायाम नहीं कहते। हिन्दुओं के धर्म में

"गतानुगतिकत्व" के अनुसार चलने वाले लोग बहुत हैं। असली बात तो अलग ही रह जाती है, और उसकी जगह कृत्रिम और मिथ्या का प्रचार हो जाता है। एक बार का ज़िक्र है कि एक वष्णव का गंगादास नामक एक शिष्य था। उसके गरु ने ऐसा उपदेश दिया था कि, "एक वार जिस वस्तु को अपने हाथ में पकड़ना उसे प्राण जाने पर भी छोड़ना नहीं"। कर्म-धर्म-संयोग से एक दिन वर्षा ऋतु में पैर फिसलने के कारण वह कीचड़ में गिर पड़ा, दुर्भाग्यवश आगे जो वहाँ एक गधा खड़ा था उसकी पूंछ इन भाई साहब के हाथ में पड़ गई। गंगादास जी गुरु वचन के पक्के थे, इससे पूंछ नहीं छोड़ी! गधे ने बहुतसी लातें मारीं, पर गुरु वचन भंग कैसे हो! बस यही हाल हमारे देश के लोगों का हो गया है, सारासार विचार करना तो यह लोग जानते ही नहीं।

संध्या तीन प्रकार की है। वैदिक, साम्प्रदायिक और तांत्रिक। इनमें नाक, कान, पकड़ने की बात किसी में भी नहीं पाई जाती। प्राणायाम करके योगी होने के बदले लोग रोगी होने का ही लाभ उठाते हैं। उचित रीति से प्राणायाम करने से शारीरिक मानसिक दोनों प्रकार का लाभ होता है।

पाँचवाँ अङ्ग प्रेत्याहार है। इसका अर्थ ऐसा होता है कि मन के विषय से सम्बन्ध तोड़ना। छठा अंग है, धारणा। अर्थात् मन की एकाग्रता। सातवाँ ध्यान। जिस वस्तु में मन लगाया हो उसे छोड़ कर दूसरी तरफ़ न जाने देना। मन जब स्थिर होजाता

है तब वह परमेश्वर के रूप में तदाकार हो सकता है। महामुनि कपिल ऋषि ने अपने सांख्यशास्त्र में ध्यान के विषय में ऐसा कहा है:—

ध्यानं निर्विषयं मनः

किसी विषय में भी मन का न जाने देना ध्यान है। आठवाँ अङ्ग समाधि है। योग दर्शन में कहा है:—

तदेवार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिवसमाधिः। ३।

समाधि के साधन से ही हमें ब्रह्मस्वरूप का अनन्य लाभ होता है। इससे सहज ही मालूम हो जायगा कि समाज की योग्यता कितनी है। कृष्ण भगवान् ने गीता में योगी लोगों का माहात्म्य इस प्रकार वर्णन किया है:—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥ अ०७॥

माया मोह में पड़कर मनुष्य स्वकर्त्तव्य से परांमुख होजाता है। वह मनमाना स्वच्छन्द आचरण करके पाप संचय करता है। अनेक कुकर्म करके दूसरों के लिए भी दुःख रूप रहता है। वह यही समझता है कि, हम अजरामर हैं। स्वच्छन्दता से आचरण करने वाला यह भी विचार नहीं करता, कि हमारे सिर के ऊपर कालचक्र घूमता है और वह हम को अचानक नाश कर देगा। उनसे यदि इतना डर हो तो इस प्रकार का प्रमाद न हो। साधारण तौर पर यह तो सभी जानते हैं कि, हमें मरना है, पर

जिसके अन्तःकरण में यह बात बैठ जाती है उससे सहसा अनुचित व्यवहार नहीं होता। मृत्यु ने किसी को नहीं छोड़ा। क्या राजा, क्या रंक, सभी इसके पंजे में आ फँसते हैं। महाराज भर्तृहरि ने कहा है किः—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयान्
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

अर्थात् बहुकाल पर्यन्त संचित किये हुए विषय अन्त में अवश्य छूटेंगे, फिर उनके वियोग होने में क्या संशय रहा। इस लिए मनुष्य उनको पहले आपही से क्यों न छोड़ देवे-क्योंकि यदि विषय आप से मनुष्य को छोड़ेंगे तो मनुष्य को बड़ा परिताप होगा और यदि मनुष्य ही अपनी ओर से उन्हें छोड़ देगा तो स्वयं महा सुख शान्ति को प्राप्त करेगा।

तात्पर्य इतना ही है कि यह भ्रम पटल दूर करके सन्मार्गवर्ती होने के लिए मनुष्य मात्र को योग ज्ञान की बड़ी भारी आवश्यकता है। योग ज्ञान से उसका आचरण शुद्ध होता है और वह लोक-परलोक में सुख पाता है। इसी लिए योग ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। योग ज्ञान से उसका आचरण शुद्ध होता है और वह लोक-परलोक में सुख पाता है इसी लिए योग ज्ञान की कितनी महिमा गाई गई है।

इस लिए मनुष्य जन्म सार्थक करने के लिए वेदाज्ञानुसार चल कर सब कुकर्मों का त्याग करना चाहिये। शुभ कर्मों में निष्ठा रख कर शुद्ध भाव से ईश्वर की भक्ति और उपासना करते हुए लोक परलोक सफल कर लेने से ही हमारा, हमारे देश का कल्याण होगा।

ईश्वर प्रणिधान

पंतजलि मुनि ने अपने योगदर्शन में ईश्वर-प्राप्ति के जो साधन वतलाए हैं उनमें ईश्वर प्रणिधान को वहुत विशेषता दी है। पहले पाद में ही, जिसमें समाधि का वर्णन है; समाधिसाधन का मुख्य उपाय ईश्वर प्रणिधान वतलाया है:—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥१-२३॥

इसके वाद दूसरे पाद में, जिसमें साधनों का वर्णन है, पहले क्रियायाग के तीन साधन वतलाये हैं। उनमें भी ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख है:—

ईश्वर प्रणिधान

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः ॥२-१॥

फिर उसी पाद में यम नियमों में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख आया है। अब प्रश्न यह है कि, जिस ईश्वर प्रणिधान को प्राचीन ऋषि मुनियों ने इतनी प्रधानता दी है वह है क्या चीज़? वास्तव में ईश्वर प्रणिधान का यह तात्पर्य है कि परमपिता ईश्वर से जो हमारा निरन्तर-सम्बन्ध है—जो सम्बन्ध कभी टूटता नहीं-उसे हम अपनी आत्मा में अनुभव करें, अर्थात् परमात्मा और आत्मा का जो निरंतर अखण्डित सम्बन्ध है उसे हम बराबर जानते रहें। दूसरे शब्दों में यदि और स्पष्ट करके इसी बात को कहना हो तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि सोते जागते चलते-फिरते, काम करते इत्यादि किसी समय भी हम परमात्मा को न भूलें, बराबर उसे सन्धान रखें।

संध्या के एक मंत्र में ईश्वर प्रणिधान का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। वह मंत्र है:—

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्

अर्थात् वह हमारा कल्याण करने वाला, सब को देखने वाला या सब को ज्ञान दृष्टि देने वाला हमारे सामने सदैव प्रकाशित रहता है; पर हमें दिखाई नहीं देता। इसका कारण यही है कि, हमारे और उसके बीच में अज्ञान का पर्दा लगा हुआ है। इस अज्ञान को दूर करना हमारा कर्त्तव्य है। यह अज्ञान ईश्वर

प्रणिधान से ही दूर हो सकता है। इसी लिए वह हमारा परमगुरु बतलाता है कि:—

पश्येम शरदः शतम् इत्यादि

अर्थात् यावज्जीवन हम परमात्मा को ही देखें। हम उसी के लिए जीवित रहें। उसी के लिए सुनें, उसी के लिए बोलें, किसी मनुष्य के आधीन न होकर उसी के आधीन रहें और इसी जीवन में नहीं किन्तु प्रत्येक जन्म में हम जो कुछ करें उसके लिए ही करें।

वालबुद्धि या नासमझ लोगों के लिए यह बड़ी टेढ़ी खीर है, वे कहते हैं, यह हो कैसे सकता है कि हम रातदिन परमात्मा की ही बातें किया करें, उसी की बातें सुना करें, और यह कैसे संभव है कि हम किसी मनुष्य के आधीन न हों, आखिर पेट-पालन के लिए किसी मनुष्य के आधीन अवश्य होना पड़ेगा। परन्तु ये वाल बुद्धि (आखिर तो ठहरे वाल बुद्धि ही !) यह नहीं जानते कि वह परमात्मा जिसने सारी सृष्टि को उत्पन्न किया है और वही जो इतने विस्तृत संसार की रक्षा करता है, वह ईश्वर सदैव हमारे साथ है और यदि उसकी आज्ञा के अनुसार अपनी आत्मा का खून आत्म हत्या न करते हुए, हम बराबर सब अपने काम करते रहेंगे तो हमें किसी एक मनुष्य के आधीन होने की आवश्यकता नहीं; क्योंकिवहकहता है:—

अहं ददामि गर्भेषु भोजनम्।

"मैं ही सारे जीवों को गर्भ में भोजन देता हूं" इसलिए पाठक-

भृन्द! हम जो कुछ काम करें उसी परमात्मा के लिए करें—उसी को अर्पण करें। कृष्ण भगवान् ने गीता में सारा ईश्वर प्रणिधान का ही तत्त्व बतलाया है। अनन्य भक्ति, निष्काम होकर, परमात्मा के लिए उसकी आज्ञा, वेदाज्ञा के अनुसार सारे काम करें; बस यही ईश्वर प्रणिधान है। यजुर्वेद अध्याय १८ मं० २९ में ऐसा ही आदेश है:—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा
यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन
कल्पताꣳस्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो
यज्ञेन कल्पताम् इत्यादि

यज्ञमय हो जाओ। अपना जीवन यज्ञ के लिए अर्पण करदो, अपने प्राण अर्पण करदो, अपनी इन्द्रियां चक्षु, श्रोत्र, वाणी यहां तक कि मन भी, उसी यज्ञ के अर्पण करदो—मन ही नहीं, आत्मा भी यज्ञ में लगादो। यही नहीं अपनी वेद विद्या, अपना सारा ज्ञान यज्ञ के लिए दे दो। कहाँ तक कहा जाय यज्ञ को भी यज्ञ के ही अर्पण करो।

पाठको! सोचिए तो सही इस यज्ञ का रहस्य! यह यज्ञ है क्या चीज? यों तो यज्ञ के अनेक अर्थ हैं; पर यहाँ यज्ञ से मतलब आत्म बलिदान और दूसरा ईश्वर से ही है। उस यज्ञ स्वरूप ईश्वर के लिए उसकी आज्ञा के अनुसार वैदिकधर्म कर्म

करने के लिए आत्म बलिदान करो। सतत् ईश्वर का ध्यान रखते हुए वैदिक कर्मों का आचरण करना, यह तो कर्मकाण्ड में ईश्वर प्रणिधान है।

ज्ञानकाण्ड में कर्म गौड़ हो जाता है, और मोक्ष के लिए परमात्मा का विचार ही मुख्य कर्म हो जाता है। यह अवस्था मनुष्य जीवन के उत्तरार्ध भाग में आती है, जब वह वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम को धारण करता है, कवि ने कहा है कि:—

वार्धक्ये मुनि वृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।

वानप्रस्थाश्रम में वह मुनि वृत्ति को धारण करता है, मुनि कहते हैं मनन करने वाले को वह आत्म मनन करता है, आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, दोनों का सम्बन्ध क्या है, दोनों का मिलाप कैसे हो इत्यादि प्रश्नों पर वह विशेपतया मनन करता है। यह ध्यान में रहे कि, कर्म का त्याग वह किसी हालत में नहीं करता। हाँ, सिर्फ ज्ञान को विशेपता देता है और कर्म को गौड़त्व—इतना ही अन्तर है। अस्तु ! वानप्रस्थ "स्वाध्याय" करता है। स्व + अध्याय = अपना अध्ययन = सेल्फस्टडी (Self-study) अपने आपका अध्ययन, आत्म-मनन। अथवा किसी गम्भीर पुस्तक को लेकर आप ही आप अपने मन में मनन करना, उसके विचार अपने मन में, और फिर आचरण में उतारना। यही स्वाध्याय है। ईश्वर प्रणिधान और इस स्वाध्याय का

बड़ा साथ है। स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान को बहुत सहायता पहुँचाता है।

इस मुनि वृत्ति के बाद अन्त में योग आता है। "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" अन्त में योग का साधन करके शरीर छोड़ना। इस योग की अन्तिम सीढ़ी समाधि है, और यह समाधि, महर्षि पतञ्जलि कहते हैं, ईश्वर प्रणिधान से ही सिद्ध होती है। इसमें अखण्ड ईश्वर प्रणिधान का साधन करना होता है। इसके लिए ओंकार का जप, अर्थात् उसके अर्थ की भावना अखण्डित रूप से करनी चाहिये। पतञ्जलि ऋषि योगदर्शन में कहते हैं:—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

तज्जपस्तदर्थं भावनम् ॥२८॥

प्रणव, अर्थात् 'ओ३म्' परमात्मा का वाचक है, परमात्मा और ओ३म् में वाच्य वाचक का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध नित्य है। यथार्थ है। योगी लोग इसी का जप करते हैं। ओंकार को वे लोग परम प्रेम से भक्ति पूर्वक अपनी आत्मा में अनुभव करते हैं। ऐसा करने से ईश्वर की उन पर कृपा होती है। और चंचल चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। इससे क्या होता है:—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥

॥ यो० स० सू० २९ ॥

इससे प्रत्येक चेतन का ज्ञान होने लगता है और विघ्नों का

पूरा पूरा अभाव होजाता है। इस दशा के स्थिर होने को ही समाधि कहते हैं। इसी दशा को पाने के लिए योगिगण परम-पिता से प्रार्थना करते हैं कि:—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन्मांधेहि पवमानामृतेलोके अक्षित इन्द्रायेन्दोपरिस्रव ॥
ऋ० मं० ६ सू० ११३ मं० ७ ।

हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करने हारे पवित्र स्वरूप ! (इन्दो) 'सर्वानन्द' दायक परमात्मन् ! (यत्र) जहाँ तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) सब प्रकार से दर्शनीय अपने स्वरूप में आप (मा) मुझको (इन्द्राय) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिए (धेहि) कृपा करके धारण कीजिए और इस दीन पुत्र पर माता के समान प्रेम भाव से आनन्द की वर्षा कीजिए।

———

परमात्मा का दर्शन

मनुष्य का सब से ऊँचा ध्येय सच्चिदानन्द परमात्मा का दर्शन करना है, परन्तु जब तक वह भौतिकता में पड़ा रहता है, इन्द्रिय सुखों के आगे उसकी दृष्टि जाती ही नहीं है तब तक सच्चिदानन्द परमात्मा का ज्ञान उसे नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा इन्द्रियगम्य नहीं है। उपनिषदों में स्पष्ट रीति से जगह जगह यही बतलाया गया है:—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। मुण्डकोपनिषत् ॥८।५१॥

चक्षु के द्वारा वह नहीं ग्रहण किया जा सकता, वाणी के योग से उसको नहीं पा सकते, अन्य कोई इन्द्रियाँ उसका ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। तपस्या अथवा कर्म के द्वारा मन और आत्मा की शुद्धि अवश्य होगी; परमात्मा के दर्शन में सहायता मिलेगी, पर इनके द्वारा भी स्वयं ईश्वर को नहीं देख सकते। उसका दर्शन करने के लिए तो विशुद्ध ज्ञान चाहिये। रजोगुण और तमोगुण से जो हमारी आत्मा मलीन हो रही है वह विशुद्ध हो जावे और उस विशुद्ध आत्मा में जब हम परमात्मा का ध्यान करें तब वह पूर्ण विज्ञान स्वरूप हमें दिखाई दे सकता है। जैसे धुँधले दर्पण में स्वरूप दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मलीन आत्मा में उस परमात्मा की प्रभा दिखलाई नहीं पड़ सकती। सदाचार से आत्मा शुद्ध होती है, जो लोग दुराचार में फँसे रहते हैं, दिन रात स्वार्थ साधन में अशान्त रहते हैं, एक पल भर भी चित्त को सच्चे आनन्द के स्थल में शान्त नहीं करते उनकी सद्गति नहीं हो सकती:—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तोनासमाहितः।
ना शान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥कठ०२४।५३॥

दुश्चरित से जो निवृत्त नहीं हुआ, जो शान्त नहीं है, जिसकी सारी शङ्काओं का समाधान नहीं हो गया, जिसका मन एकाग्र नहीं उसको ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता और उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

पाठक कहेंगे कि जो परमात्मा सब जगह एक रस भरा हुआ है, हमारे हृदय में भी व्याप्त है, वह तो हमें प्राप्त ही है, प्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसी ? यह सच है; वह तो हम से दूर नहीं है, पर हम उससे अवश्य दूर हो रहे हैं। जैसे बहुधा लोगों का अनुभव है कि कोई वस्तु जैसे कलम इत्यादि, कान पर कई लोग रख लेते हैं और भूल जाकर उसे खोजते रहते हैं, वह जब तक नहीं मिलती, बड़े हैरान रहते हैं; परन्तु मिल जाने पर उन्हें बड़ा आनन्द होता है। इसी प्रकार परमात्मा भी हमारे पास रहते हुए भी हमारे अज्ञान के कारण, हम से अलग हो रहा है, अथवा यों कहिए कि हम अज्ञान के कारण उसे भूले हुए हैं। हमारा अन्तः करण यदि शुद्ध हो जाय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, गर्व, स्वार्थ इत्यादि को यदि हम अपने से दूर कर सकें; दया, क्षमा, शान्त, सत्य, परोपकार, स्वार्थ त्याग, प्रेम इत्यादि दैवी गुणों को यदि हम धारण करलें तो वह अनन्त शान्त, आनन्दमय परिपूर्ण, मंगल स्वरूप, सर्व कल्याणप्रद हमारे हृदय में हमारे लिए भी प्रकाशित हो जावे। कृष्ण भगवान् गीता में यही कहते हैं कि:—

काम क्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

जिनमें काम क्रोधादि अशान्त करने वाले विकार नहीं हैं, जो यती अर्थात् अपने को जीते हुए हैं अथवा जो अपने आप को जानते हैं, आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान जिन्हें प्राप्त होगया

है जो विवेकी, सच्चे अर्थों में, 'पंडित' हैं उन्हीं को सच्चिदानन्द का दर्शन होता है। तात्पर्य, मनुष्य के अन्तःकरण में विवेक नामक जो तत्त्व है उसके द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान होकर तत्पश्चात् परमेश्वर की कृपा से उसके परिपूर्ण मङ्गल स्वरूप का ज्ञान होता है; और इस विवेक में यदि कोई पाप विचार न पैदा हुआ और वह वैसा ही शुद्ध बना रहा तथा उसके अनुकूल पुण्य आचरण होता रहा तो अन्त में परमेश्वर का दर्शन होता है।

जिनका चित्त सब प्रकार से प्रपंच में डूबा हुआ है, उनको केवल स्थूल भौतिक पदार्थ, जो इन्द्रिय-गोचर हैं, वही देख पड़ते हैं, और जड़भूत जल, स्थल, पाषाण इत्यादि में ही उनका चित्त रमा रहता है, सब में व्याप्त परमात्मा की कल्पना भी वे नहीं कर सकते, ऐसी दशा में परमात्मा के विषय में उनका मन शंकित रहता है, और ज्यों ज्यों वे भूतों की उपासना में फँसते जाते हैं त्यों त्यों उनसे परमात्मा और भी दूर होता जाता है। ऐसे मनुष्यों के सामने आगे चल कर बड़े संकट आते हैं और यदि सौभाग्य-वश उन्हें कोई ज्ञानी मिल जाता है, तो वह बतलाता है कि परमात्मा इस संसार के अणुरेणु में व्याप्त है, वह तुम्हारे मन में मन से भी सूक्ष्म रूप में है—वह आत्मा में आत्मा से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में है, उसी के कारण प्रत्येक भौतिक पदार्थ में क्रिया शीलता दिखलाई दे रही है, सारा विश्व उसी की सत्ता से चल रहा है, इस विस्तीर्ण पृथ्वी पर, इस अपार समुद्र तल पर, इस विशाल आकाश मण्डल में जो जो क्रान्तियां हो रही हैं;

हम लोगों की जो अनेक सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक हलचलें हो रही हैं, इनमें जो अपार सामर्थ्य दिखाई दे रही है यह सब सामर्थ्य किसकी है? उसी एक सर्व शक्तिमान्, विश्वकर्मा, सर्व संचालक, ईश्वर की ही यह सब लीला है, वही सब में प्रविष्ट होकर यह सब खेल करा रहा है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता

हे अर्जुन! परमात्मा सब भूतों के हृदय स्थल में वास करता है, और वही अपनी लीला से, अपनी विचित्र शक्ति से, सब भूतों को चरख पर चढ़ा कर, भ्रमाता है, उनके सारे व्यापार चलाता है, परन्तु वह सब भूतों में गूढ़ रूप से है। और वह उसका रूप अनन्त है, आत्ममय है, इस लिए इन्द्रियों को गोचर नहीं; परन्तु बुद्धि विवेक से वह गम्य है। संशयात्मा, या कलुषित-हृदय वाला मनुष्य उसे नहीं पा सकता। मुण्डकोपनिषत् में कहा है कि:—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

जब मनुष्य के हृदय की अविद्या रूपी गाँठ खुलजाती है, सारे संशयों का उच्छेद हो जाता है और जब सब शुभाशुभ कार्यों का क्षय हो जाता है, कोई विकार नहीं रहता, तब परमात्मा का दर्शन होता है और एक वार जहाँ उसका दर्शन हो गया फिर

उस मनुष्य के लिए पाने को और कुछ बाक़ी नहीं रहता, सांसारिक विपय सुखों से वह परावृत्त हो जाता है, मङ्गलमय परमपिता की गोद में पहुँच जाने पर फिर और क्या आनन्द चाहिये। ऐसे परम कृतार्थ महात्मा की दशा वर्णन करते हुए उपनिषत् कहते हैं।

सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेत ॥तैत्तिरी०

सत्य ज्ञान स्वरूप उस अनन्त परमात्मा को जो एक बार अपने अन्दर विज्ञान से जान लेता है वह उस व्यापक परम पिता की गोद में स्थित होकर, उस अनन्त विद्यायुक्त पिता के साथ "सर्वान् कामान् अश्नुते।" सम्पूर्ण कामनाओं का भोग करता है, कोई आनन्द उसे प्राप्त होने से शेष नहीं रहता।

———o———

विश्वास करो—परमात्मा है, सर्वत्र व्याप्त है, सब में ओतप्रोत है; विश्वास करो वह परम दयालु है, हम कैसे भी क्यों न हों, वह सदा हमारा हित ही किया करता है; विश्वास करो, तुम उसे बड़े प्यारे हो, उसके अपने हो, उसी के स्वरूप हो, चाह करने पर इस बात को प्रत्यक्ष कर सकते हो, वह तुम से मिल सकता है। तुम उसे जान सकते हो, देख सकते हो और उसमें समा सकते हो।

विश्वास करो, तुम दीन-हीन नहीं हो, तुम शुद्ध-बुद्ध हो, तुम अमृत हो, तुम महान् हो, तुम्हारे अन्दर परमात्मा की शक्ति भरी

है, तुम चाहो तो सब कुछ कर सकते हो; दूसरी सृष्टि रचने वाले विश्वामित्र, मुर्दे को जिलाने वाले शुक्राचार्य, पत्थर में से प्रत्यक्ष सशरीर भगवान् को प्रकट कराने वाले प्रह्लाद और माखन दिखा-दिखाकर आँगन में कन्हैया को नचाने वाली गोपियों में और तुम में वस्तुतः कोई फ़र्क नहीं है, तुम भगवान् को उतने ही प्यारे हो, जितने वे सब थे; तुम में इस बात का विश्वास नहीं है, यही कमी है, दृढ़ विश्वास करो और भगवान् के वैसे ही प्यार को प्रत्यक्ष पाकर परम सुखी हो जाओ ! स्मरण रक्खो, आत्मविश्वास ही सफलता की कुञ्जी है—विजय का मूल मन्त्र है और परमात्मा की कृपा को खींचने वाला चुम्बक है।

विश्वास करो, जगत् में ऐसी कोई चीज़ नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई स्थिति नहीं, जिसे तुम नहीं पा सकते। आत्म-शक्ति पर विश्वास करो-दृढ़ विश्वास करो, अडिग निश्चय करो, फिर देखो, सफलता तुम्हारे चरणों पर लोटती है। तुम्हारे मन की चीजें तुम्हारे पास आने में ही अपने जीवन को सफल समझती हैं। तुम्हारी आत्मशक्ति के आगे कुछ भी असम्भव नहीं है।

विश्वास करो, तुम प्रभु के परमप्रिय हो, प्रभु सदा तुम्हारे साथ है, तुम सदा उनकी गोद में हो, तुम पर उनकी इतनी अपार कृपा है कि जितनी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। उनका अभय हस्त सदा ही तुम्हारे मस्तक पर फिर रहा है, वे सदा ही तुम्हारी रक्षा करते हैं। विश्वास की कमी से ही तुम इस सच्ची स्थिति से

दुःखित हो रहे हो, विश्वास करो और निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाओ।

विश्वास करो, जगत् में एकऐसी स्थिति है, जिसमें अज्ञान, मोह आशक्ति, दुःख, अशान्ति, स्वार्थ, शोक, द्वेप, मोह, वैर, विपाद, विपमता, मेरे तेरे की कल्पना भी नहीं है। जहाँ पूर्ण ज्ञान है, पूर्ण प्रेम है, पूर्ण शान्ति है, पूर्ण समता है, पूर्ण प्रकाश है, पूर्ण आनंद है और वह स्थिति तुम्हें अवश्य मिल सकती है, तुम वही वन सकते हो।

मन को आनन्द, प्रकाश, प्रेम, शान्ति और समता से भर लो। चित्त की शुद्धि का यही अर्थ है कि उसमें केवल दिव्य आनन्द, प्रकाश, प्रेम, शान्ति और समता की पूर्णता हो, वह इन्हीं से भरा रहे। आनन्द ही प्रकाश है, प्रकाश ही सत् है, वही चेतन है, वही प्रेम और वही शान्ति है, उसी में समता भरी है, वही सच्चिदानन्दघन है। वस, उसीसे चित्त के कोने-कोने को भर लो। उसके सिवा सभी विचार अशुद्ध हैं, चित्त के लिये अस्पृश्य हैं।

मन को मौन करो। मुँह से न वोलने का नाम ही मौन नहीं है, मौन कहते हैं चित्त के मौन हो जाने को। चित्त जगत् का मनन ही न करे, जगत् का कोई चित्र चित्त पटल पर रहे ही नहीं। वस, एकमात्र परमात्मा में ही चित्त रम जाय, वह उसीमें प्रविष्ट हो जाय। विश्वास करो, यह स्थिति होती है, तुम्हारी भी यत्न करने पर हो सकती है। ऐसा ध्यान हो सकता है, ऐसी

समाधि सम्भव है, जिसमें जगत् की तो बात ही क्या, तन-मन की भी सुधि नहीं रहती, अधिक क्या, ध्यान करने वाला स्वयं ध्येय में समाकर खो जाता है। इस आनन्द का मजा जबान से कोई नहीं बता सकता, यह अनिर्वचनीय होता है, जिसको एक बार मिल गया, वह उसे कभी छोड़ना ही नहीं चाहता, परन्तु उल्लू को प्रकाश के सुख का क्या पता ? जो ध्यान करता ही नहीं, जिसका चित्त रात-दिन जगत् का चिन्तन किया करता है, उसे क्या पता ? विश्वास करो, चेष्टा करो, आठों पहर सावधान रहकर चित्त की वृत्तियों से जगत् के चित्र को हटाकर उनमें परमात्मा—आनन्द रूप का प्रवेश कराओ, वे स्वयं आनन्दमयी हो उठें।

स्मरण रक्खो, सब कुछ मन ही पर अवलम्बित है। तुम्हारा मन शुद्ध है तो तुम्हारे लिये जगत् शुद्ध है। तुम्हारे मन में काम या क्रोध नहीं है, तुम्हारी मनोवृत्ति उन्हें नहीं पहचानती तो इन्द्र की उर्वशी सोलह शृङ्गारों से सजकर आने पर भी एवं तुम्हारे सामने किसी के द्वारा तुम्हारा महान् अनिष्ट हो जाने पर तुम पर काम या क्रोध का असर नहीं हो सकता। शरीर से तभी पाप होते हैं, जब कि पाप तुम्हारे मन में होते हैं। छोटे बच्चे के मन में काम नहीं होता, वह युवतियों के वक्षःस्थल पर खेलता है, उसके शरीर में कोई विकार नहीं होता। पुरुष उन्हीं नेत्रों से माता को देखता है, और उन्हीं से अपनी स्त्री को देखता है, उसी हाथ से माता का अँग स्पर्श करता है और उसीसे स्त्री का

अंग स्पर्श करता है, परन्तु पहले में कोई शरीर-विकार नहीं होता और दूसरे में काम-वासना जाग्रत होती है। कारण क्या है—माता के दर्शन या स्पर्श के समय मन में काम नहीं रहता और स्त्री के दर्शन-स्पर्श में रहता है। जो मन में है, वही बाहर आता है, क्रिया वही होती है, जिसका संकल्प मन में होता है।

मन को निर्विषय करो, परमात्मा के सिवा अन्य विषय-चिन्तन को सर्वथा हटाओ, ऐसा न हो सके तो शुद्ध विषयों का चिन्तन करो। आनन्द, सुख, ज्ञान, शान्ति, समता, परोपकार, दया, प्रेम, करुणा, अहिंसा, सेवा, दान, मैत्री, ब्रह्मचर्य, संयम आदि भावों का संग्रह और पोषण करो। तुम्हारे मन के अनुसार तुम्हारा वातावरण बन जायगा, तुम्हें वैसा ही संग मिलेगा और उसी के अनुसार तुम्हारी क्रियाएँ होंगी। तुम्हारे मन में द्वेष न होकर प्रेम होगा, तो उसकी झलक तुम्हारी आँखों पर, तुम्हारे चेहरे पर और तुम्हारी वाणी में आवेगी, तुम्हें देखते ही तुम्हारी वाणी सुनते ही, तुम्हारी आँखों से आँख मिलते ही लोगों का तुम्हारी ओर आकर्षण होगा, प्रेम-झाँकी होगी। वे भी तुम्हारे प्रेमी बन जायँगे। मन में प्रेम होगा तो तुमसे क्रिया भी प्रेम की ही होगी, फल यह होगा कि जगत् तुम्हारा प्रेमी बन जायगा, यही बात दूसरे सद्गुणों की समझो। तुम्हारे मन में जिस भाव की अनन्यता या जिन भावों की प्रधानता होगी, तुमको बदले में भी वही भाव मिलेंगे—तुम्हारे मन में आनन्द होगा, तुम्हें

आनन्द मिलेगा, प्रेम होगा प्रेम मिलेगा, दया होगी, दया मिलेगी—यही बात सब में समझो। स्मरण रक्खो, तुम्हारे मन का पूर्ण प्रेम, तुम्हारे मन की पूर्णशान्ति तुम्हारे शरीर, नेत्र और वाणी में प्रकट होकर जगत् को प्रेम और शान्ति का दान दे सकती है। तुम्हारे दर्शन, स्पर्श और भाषण से लोग प्रेम और शान्ति को पा सकते हैं। श्रीचैतन्य के स्पर्शमात्र से लोग प्रेमी बन गये, उनके दर्शन, कीर्त्तन श्रवण से हिंसक जन्तु प्रेममत्त हो नाचने लगे, काकभुशुण्डिजी के आश्रम के इर्द-गिर्द चार-चार कोस में आसुरी सम्पत्ति नहीं घुसने पाती थी। तुम भी ऐसे ही बन सकते हो।

इसी प्रकार यदि तुम्हारे हृदय में अज्ञान, द्वेष, दुःख, विषाद, शोक, स्वार्थ विषमता, अशान्ति, काम, क्रोध लोभ, वैर, हिंसा आदि होंगे तो तुम्हारा वैसा ही वातावरण हो जायगा, वैसा ही संग होगा और वैसी ही क्रिया होगी। फलतः तुम वैसे ही बन जाओगे। अपने से मिलने वालों को और जगत् को भी तुम यही चीजें दोगे। अच्छे-बुरे भाव सिर्फ एक बार मन में उदय होकर सुख-दुख दे जाते हैं, इतना ही नहीं है, वे अपना संस्कार-बीज छोड़ जाते हैं जो अनुकूल वातावरण पाकर ही बार-बार अँकुरित और फलित होते हैं। आज तुमने किसी से द्वेष किया, उसका चित्र संस्कार बीज रूप से तुम्हारे मन पर अंकित होगया, तुम द्वेष को पहचान गये, मौका पाकर वह फिर उदय होगा और तुम्हें दुःख देगा। यही बात अच्छे भावों के लिये है। अतएव

बुरे भावों का सञ्चय और पोषण कभी न करो, मन में इनको आने ही न दो। यह नरकाग्नि है जो तुम्हें जलाती है और जलाती रहेगी। नये-नये पाप करवायेगी और उनका तार सहज में टूटना कठिन हो जायगा। तुम्हें बार-बार नारकी योनियों में जा-जाकर असह्य यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ेंगी, तब भी सहज में छुटकारा नहीं मिलेगा।

मन में सद्भावनाओं को भरे रक्खो, सब का भला चाहो, सब का कल्याण चाहो, सब में परमात्मा की भक्ति फैलने, सब में सात्विक भाव बढ़ने और सब में प्रेम-विस्तार होने की भावना करो। विश्वास करो, तुम्हारे दृढ़ भाव से, तुम्हारी प्रबल शुद्ध इच्छा शक्ति से तुम्हारी भावनाएँ, तुम्हारे संकल्प सत्य हो सकते हैं, तुम अपनी सद्भावना से अनेकों दुखियों, रोगियों, अज्ञानियों और पापियों को दुःखमुक्त, रोगमुक्त, अज्ञानमुक्त और पापमुक्त कर उन्हें सुखी बना सकते हो।

विश्वास करो, तुम अपनी सद्भावनाओं से सत्-विचारों से सात्विक संकल्पों से अपने आस-पास ही नहीं—सारे भूमण्डल पर सद्भावना, सद्विचार और सात्विक संकल्पों का विस्तार कर सकते हो। स्वयं परम सुखी हो सकते हो और जगत् के लोगों को सुखी बना सकते हो।

इतना विस्तार अभी न हो तो कम-से-कम तुम तो सुखी हो ही सकते हो, यह तुम्हारे हाथ की बात है। तामसी-राजसी कुविचारों और कुसंकल्पों को पाल-पालकर उनका पोषण

कर-कर तुम दुःखमय और पापमय बन सकते हो, तथा उनको हटाकर सात्विक विचारों और सत्संकल्पों को हृदय में रखकर उन्हें भली-भांति सञ्चितकर पाल-पोसकर तुम आनन्दमय और पुण्यमय बन सकते हो। याद रक्खो, सत्संकल्प ही स्वर्ग है और व्यर्थ संकल्प तथा पाप संकल्प ही नरक है। सत्संकल्प और सद्विचार ही अमृत है और व्यर्थ तथा बुरे संकल्प और व्यर्थ तथा बुरे विचार ही मृत्यु है, अतिमृत्यु है।

तुम यदि सत्संकल्पों के कारण चित्त की वृत्तियों को आनन्दमय, पुण्यमय, प्रकाशमय, शान्तिमय समतामय बना सके तो विश्वास करो, तुम भगवान् के अत्यन्त समीप पहुंच गये। तुम्हारा मनुष्य-जीवन सफल होगया। यह तुम्हारे हाथ की बात है सोचो, विचार करो और दृढ़ता के साथ मन को सद्विचारों से भरने के प्रयत्न में प्राणपन से लग जाओ।

जीवात्मा

जीवात्मा का विषय बहुत गहन और सूक्ष्म है। योगी पुरुषों के लिए भी अगम्य है। तथापि इस विषय में ज्ञानी पुरुषों का क्या यथार्थ कथन है, उसी का वर्णन किया जायगा।

बहुत से लोगों की धारणा है कि शरीर ही आत्मा है। शरीर और आत्मा भिन्न नहीं। इन्द्रिय आत्मवादियों का कहना यह है कि "शरीर की अपेक्षा इन्द्रिय उत्तम है, और इसी लिये इन्द्रियाँ ही आत्मा है। इन्द्रियों से आत्मा कोई भिन्न नहीं।" मन आत्म-वादियों का कथन यह है कि "आम्रफल का स्वाद जिह्वा को मालूम पड़ता है। उसकी सुगन्धि नासिका को, रंग नेत्रों को, कोमलता

त्वक इन्द्रिय को। परन्तु वह फल मिष्ट, सुगन्धित, पीला, कोमल, इत्यादि गुणों से युक्त है। यह बात एक ही समय में जानने वाला इन्द्रियों से कोई भिन्न है और वह मन है।" इस युक्ति से मन-आत्मवादी इन्द्रियों को आत्मा न मान कर मनको मानता है, अन्य कुछ लोगों का कथन है कि "मन आत्मा नहीं है। क्योंकि मन का काम तो संकल्प विकल्प करना है। परन्तु निश्चयात्मक ज्ञान जिस से प्राप्त होता है वह बुद्धि है।" इस लिए मन आत्मा नहीं है, किन्तु बुद्धि ही आत्मा है ऐसा वे मानते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि "प्राण ही आत्मा है। इसके अस्तित्व से प्राणी जीते हैं और यदि यह न हो तो प्राणी जीवित न रहे, इस लिए प्राण ही आत्मा है।" परन्तु यह कथन भी कितनों ही के मत से योग्य नहीं। क्योंकि निद्रा में प्राण रहता है, उसमें ज्ञानशक्ति नहीं होती। प्राण तो एक प्रकार का जड़ वायु है, इस लिए यह आत्मा नहीं हो सकता; कितने ही लोग शून्य को आत्मा मानते हैं। कुछ एक कहते हैं :—"शून्य को यदि आत्मा मानते हो तो हम कहते हैं कि जो शून्य को जानता है वही आत्मा है, क्योंकि पहले तो शून्य को जान ही नहीं सकते।" इस प्रकार प्रस्तुत विषय में बहुत मतभेद है। वैदिक लोग आत्मा का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

इच्छा द्वेष सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।

अर्थात् जो सुख की इच्छा करता है, यही नहीं, किन्तु उसकी

प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, तथा दुःख की इच्छा न करते हुए द्वेष करता है, और जिससे सारे पदार्थों का ज्ञान होता है, वही आत्मा है। अब हमें यह देखना है कि यह मत कहां तक सत्य है।

हमारे बड़े बड़े ऋषियों ने इस विषय पर अति सूक्ष्म विचार किया है। वे महात्मा आजकल के पुरुषों की तरह नहीं थे। वे तीनों पुरुषार्थों को उत्तम प्रकार से जानते थे। इस क्षणिक संसार में अहर्निश निमग्न न रहते हुए, अरण्य में रह कर आत्मा और ईश्वर विषय पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते रहते थे। उन्होंने इस विषय पर अत्यन्त श्रम करके महान् आविष्कार किया है, इसलिए उनका कहना क्या है, सो आपको ध्यान पूर्वक पढ़ना चाहिये।

नास्तिक लोग प्रकृतिवादी हैं। उन्हें चैतन्य का ज्ञान नहीं। वे कहते हैं, "चैतन्य प्रकृति का एक विकार है।" चैतन्य स्वतन्त्र नहीं,-ऐसा उनका मत है। अब हमें यह सिद्ध करना है कि जीव शरीर से भिन्न है।

जब तक शरीर में चैतन्य शक्ति है तब तक ज्ञान शक्ति है। उसका शरीर से वियोग होते ही शरीर मृतप्राय हो जाता है। ज्ञान शक्ति शरीर का एक अंश या विकार है। अतएव जहां तक शरीर है वहाँ तक ज्ञान शक्ति होनी ही चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। जैसे जहाँ तक दीपक होता है, वहाँ तक प्रकाश भी होता है। दीपक से प्रकाश अलग नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट होता

है कि ज्ञानशक्ति शरीर से भिन्न है, अब यह कैसे कहा जा सकता है कि शरीर और आत्मा एक ही है? जिसके योग से ज्ञानोद्भव होता है उसी को आत्मा कहते हैं। हाथ, पैर, नाक, कान इत्यादि अवयवों में ज्ञान शक्ति का अभाव है। इसी तरह शरीर स्वयं जीवात्मा नहीं; शरीर के मरते साथ साथ ही ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर और ज्ञान शक्ति ये दोनों भिन्न भिन्न हैं। अब हमें यह विचारना चाहिए कि आत्मा शरीर का भाग है या इससे वह पृथक् है।

यदि यह माना जाय कि जीव पंचतत्व का बना हुआ है तो पहले यह देखना चाहिये कि पंचतत्व में ज्ञान शक्ति है या नहीं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश, इन पंचतत्वों में से किसी में भी जब चैतन्य शक्ति नहीं यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हुई बात है तब यह कहना, कि इन पाँच तत्वों में ज्ञान शक्ति है, बिलकुल युक्ति शून्य है। अच्छा, एक मत यह भी पाया जाता है कि जैसे आक्सिजन और हाइड्रोजन इन दो प्रकार की वायु के मिश्रण से जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इन पंचतत्वों के मिश्रण से जीव शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अच्छा अब हमें यह जाँच करना चाहिए कि यह सिद्धान्त कहाँ तक सत्य है। जीव शक्ति प्रारम्भ से ही पंच-तत्व में अंशतः है या मिश्रण के अनन्तर वह उत्पन्न होती है? जब प्रारम्भ से ही अंशतः उनमें (पंच-तत्वों में) यह शक्ति होगी तभी मिश्रण के बाद भी उत्पन्न होगी, अन्यथा यह हो नहीं सकता कि प्रारम्भ में न हो और

मिश्रण होने के बाद उत्पन्न हो जाय। यह स्वयं सिद्ध है। चैतन्य पृथ्वी में है, अथवा वह पाँचों तत्वों के मिश्रण होने के बाद उत्पन्न होता है। इन दो बातों में से एक बात माननी ही चाहिये। जीवात्मा को यदि पंच-तत्वों का एक रूपान्तर माना जाय तो पंच-तत्व में पहले ही से उसका अंशतः होना मानना पड़ेगा। अच्छा, अब इस विषय में विचार करना चाहिये कि जीव शरीर का एक अंश है, या जीव और शरीर दोनों पृथक्-पृथक् हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य को नहीं छोड़ सकता और गुणी मनुष्य का गुण उसे नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार यदि जीव को शरीर का एक गुण माना जाय, तो वह उसे छोड़ सकता नहीं। मतलब यह कि शरीर के मृत होने पर उसे शरीर से भिन्न न होना चाहिये। परन्तु शरीर के मृत होते ही जीवात्मा उससे विमुक्त हो जाता है, इससे यह कदापि नहीं कह सकते कि वह शरीर का एक अंश है।

कैसे शोक की बात है कि आज कल हम लोग अपने कर्त्तव्य कर्म की ओर ध्यान न देते हुए अज्ञानी की तरह सिर्फ़ मुँह से ही बकते रहते हैं, इसी से अधिकांश में हमारी विचार शक्ति का लोप हो गया है। अज्ञानता के कारण हम यह नहीं जान सकते, और न समझ सकते हैं, कि हमारी स्थिति पहले कैसी थी और आजकल कैसी है। संस्कृत में जिसको योग कहते हैं और जिसका ज्ञान हमारे ऋषियों मुनियों की बदौलत ही दूसरों को होता था, वह अब यूरोप, अमेरिका आदि देशों में "मेसमरीज़म" के नाम

से प्रकट हुआ है। महाभारत के शान्ति पर्व में एक कथा है कि "राजा जनक के दरबार में सुलभा नाम की एक बाला योग विद्या में पारंगत होकर आई थी" तात्पर्य इतना ही है कि आर्यावर्त में छोटी छोटी बालिकाओं को भी योग विद्या का सम्पूर्ण ज्ञान था। योग विद्या के प्रभाव से, अथवा आधुनिक विद्वानों के कथनानुसार "मेस्मरीज़्म" से शरीर की भीतरी रचना जानी जा सकती है, और इससे अनेक रोग अच्छे होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो कार्य नहीं किया जा सकता वही कार्य जिससे हो सके वह एक स्वतंत्र शक्ति होनी चाहिये, और वह शक्ति आत्मा है।

जिसे हम लोग आत्मा मानते हैं उसे आजकल के डाक्टर लोग ब्रेन कहते हैं, वे लोग ब्रेन को भी अन्य इन्द्रियों की तरह शरीर का एक अंश ही बतलाते हैं। तब तो आधुनिक डाक्टरों के कथनानुसार, जो मनुष्य स्थूल शरीर का हो, उसकी आत्मा भी विशाल होनी चाहिये। पर शरीर की विशालता के अनुसार आत्मा विशाल नहीं होती।

कई लोगों का कहना है कि "मेस्मरीज़म" के योग से विविध समाचारों का जानना और इसी तरह पूर्ण योगाभ्यास के साधन से पुनर्जन्मादि स्थितियों का जानना असंभव है।" हमारे देश में सौ दो सौ वर्ष पहले यदि कोई कहता कि यूरोप में बैल, घोड़ा इत्यादि से चलाई जाने वाली गाड़ी सिर्फ़ अग्नि और जल के योग से चलती है तो लोग उसे पागल और मूर्ख ठहराते। रेलवे के निकलने के पहले विमान की बात कोई सच न मानता। यही

हाल पुनर्जन्म और आत्मा के अस्तित्व का भी समझिये। हम लोग अपनी अगाढ़ अज्ञानता के कारण इस बात को विलकुल सच नहीं मानते और हमारे वड़े वड़े विद्वान् जो अपने ग्रन्थों में ऐसी वड़ी वड़ी बातें लिख गए हैं उनको हम सिर्फ मनोरंजन उपन्यास या अरेबियन नाइट की कहानियां मानते हैं। पर वास्तव में पूर्व काल का यह हाल न था। जैसे सूर्य की किरणें, जहां तक जगह मिलती है वहां तक फैलती जाती हैं उसी प्रकार योगियों की शक्ति योग के प्रभाव के अनुसार वढ़ती जाती है। आत्मा चर्म चक्षु से नहीं देखा जा सकता। वह सिर्फ ज्ञान चक्षु से ही देखा जा सकता है। शरीर और आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं, जैसे तप्त लोह की अग्नि जव उससे अलग हो जाती है, तव दिखाई नहीं पड़ती। पर वास्तव में वह लोह से अलग ही है। उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी भिन्न भिन्न हैं।

अव यह देखना चाहिए कि इन्द्रियों की तरह क्या आत्मा एक भिन्न वस्तु है, प्रत्येक अवयव में आत्मा नहीं होता। सव अवयवों में मिलकर आत्मा होता है। फूल लाल, सुगन्धित और कोमल है—यह देखने और जांचने का काम भिन्न भिन्न अवयवों का है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन्द्रियां आत्मा नहीं है। यही हाल मन का है। जैसे अक्षि (आंख) की शक्ति देखना है उसी प्रकार मन की शक्ति जानना है। मन कुछ साक्षात् जीव नहीं। सारांश यही कि जीव इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है।

ऋग्वेद में कहा है कि तीन पदार्थों के अन्दर सारी पृथ्वी का समावेश हुआ है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षपरिषस्वजाते इत्यादि।

वे तीन पदार्थ प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीव शरीर से भिन्न है। शरीर का नाश होता है, पर जीव का नाश नहीं होता। वह अनादि अनन्त है।

नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

अर्थात् अग्नि, पानी, या शस्त्र उसका नाश नहीं कर सकते। इससे सिद्ध होता है कि जीव स्वतन्त्र है, चींटी से लेकर हाथी तक सब में जीव है।...“अहमस्मि” “I am” मैं हूं यह प्रत्येक प्राणी प्रयत्न करता है। इससे भी प्रकट होता है कि जीव का अस्तित्व सर्वमान्य है।

“Evolution theory”

(विकासवाद), और “सांख्यशास्त्र” में सृष्टि उत्पत्ति के विषय में वर्णन किया गया है। इस विषय में चार्ल्स डार्विन, हर्बर्ट, स्पेन्सर, इत्यादि अनेक तत्ववेत्ताओं ने विचार किया है। सब पदार्थों का सूक्ष्म विचार करने के बाद सांख्यशास्त्र में आत्मा का विषय अति उत्तम रीति से समझाया है। जैसे अन्न से दूध, दूध से दही, दही से माखन, माखन से घी, और घी से वाष्प, इत्यादि अनेक रूपान्तर होते हैं उसी प्रकार शरीर की भी दशा है। अन्न वीर्य, वीर्य से गर्भ, गर्भ से उत्पत्ति, बाद को बाल्यावस्था शैशवावस्था, किशोरावस्था, वृद्धावस्था और अन्त में मृत्यु—इस प्रकार

शरीर के अनेक रूपान्तर होते हैं। शरीर के सारे अवयवों में आत्मा रहता है। उसके अनस्तित्व का अभाव है। हम सब पदार्थों को जानते हैं, और जानना, यह एक चैतन्य शक्ति का गुण है और वह चैतन्य शक्ति आत्मा के विना हो नहीं सकती। सूर्य है, तभी प्रकाश होता है। रात को सूर्याभाव में प्रकाश का भी अभाव है। प्रकाश देख पड़ता है, तब यह मानना चाहिये कि सूर्य भी है। इसी प्रकार हम जानते हैं कि हममें चैतन्य शक्ति है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आत्मा है। चैतन्य शक्ति है, इसी लिए शरीर के सारे व्यापार हो सकते हैं। वह यदि न हो तो तुरन्त ही सारा मामला विगड़ जाय। आधुनिक डाक्टर तो अभी इसी शंका में पड़े हैं कि जीव है या नहीं, परन्तु हमारे प्राचीन विद्वान् वैद्य इस विपय में वहुत अच्छा ज्ञान रखते थे। चरक, सुश्रुत, इत्यादि ग्रन्थों में जहाँ अष्ट धातु वर्णन है वहाँ उसमें एक जीव भी है। आजकल के विद्वद्वर्य लोगों की बुद्धि साकार पदार्थों को ही जान सकती है, निराकार पदार्थों के जानने में वह कुंठित हो जाती है। जिस पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता उसके लिए इन्द्रियों का ही उपयोग करना कितनी बड़ी भूल है। हमारे पेट में यदि दर्द है तो उसे हमारी आँखें कैसे देख सकती हैं ? और कान भी उसे नहीं देख सकते। उसके जानने के लिए तो बुद्धि की ही आवश्यकता है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय बात ज्ञान से ही समझ लेनी चाहिये। वैशेपिक शास्त्र में कहा है:—

आत्मान्यतम मनसो संयोग विशेषादात्म प्रत्यक्षम् ।

अर्थात् मन और आत्मा का विशेष सम्बन्ध होने से आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। इनका विशेष सम्बन्ध यदि न हो तो वह ज्ञान नहीं होता। आत्मा और मन का सम्बन्ध सदैव का है; परन्तु इस सम्बन्ध से आत्मबोध नहीं होता है, ऐसा कणाद ऋषि का भी कथन है। प्राचीन पुरुष आज कल के जैन्टलमैनों की तरह होटल में जाकर वर्फ, सोडा, शरवत, इत्यादि वस्तुओं का उपयोग करके व्यर्थ की गप्पें मारने वाले नहीं थे किन्तु उदर पोषण के निमित्त धान्य का एक एक कण बीन कर, निर्जन बन में रह कर, जनसमूह के लिए अतिशय उपयोगी जो परमात्मा का विषय है उसके विचार में अहर्निश कालक्रमण करते रहते थे। इन्होंने अपनी सारी आयु इसी प्रकार के सूक्ष्म विचार में, हमारे कल्याण के लिए, व्यतीत की, अतएव उन महात्माओं के विचार अत्यन्त मूल्यवान् और महत्त्व पूर्ण होने चाहिये। हर्बर्ट स्पेन्सर के समान ग्रन्थकारों के एक दो ग्रन्थ पढ़कर आजकल के नवयुवक विद्वान् अपने प्राचीन ऋषियों की निंदा करने लगते हैं, यह कितने शोक की बात है। हमारे ऋषियों ने जो जो मार्ग और जो जो शिक्षा बतलाई हैं उस पर अवलम्बित न रहते हुए जब हम उनके बतलाए हुए मार्ग को देखे बिना, यह शंका निकालते हैं कि जीवात्मा है या नहीं, तब आप बतलाइये, इसमें दोष किस का है हमारा या हमारे गुरुजनों का? हमारे हाथ में एक लकड़ी है और हम वह लकड़ी एक अंधे पुरुष को बतलाते हैं तथा उसके विषय में हम

उससे बहुत कुछ विवरण करते हैं, तथापि उसके ध्यान में वह बात नहीं आती; तो क्या इससे हमको यह मान लेना चाहिये कि वास्तव में वह लकड़ी नहीं है? अंधे की दृष्टि नहीं, इसमें हमारा क्या दोष? इसी प्रकार यदि हमें आत्मा का ज्ञान न हो तो इससे यह नहीं कह सकते कि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं। न समझना तो अपना ही दोष है। हम आत्म सम्बन्धी विषय का यथायोग्य विचार नहीं करते, पर एकदम स्वच्छन्दता से निश्चय कर बैठते हैं—यह कुछ उत्कृष्ट मार्ग नहीं है। आजकल के डाक्टरों का यह मत है कि—"चैतन्य शक्ति ब्रेन (मस्तिष्क) में रहती है। क्रियाजनक और ज्ञानजनक तन्तु ब्रेन से निकल कर शरीर के सब भागों में फैले हुए हैं और उन्हीं से सारा व्यवहार चलता है। इन भाइयों से हमें इस विषय में इतना ही पूछना है कि जब सारे शरीर में ज्ञान तन्तु फैले हैं तब ऐसी कल्पना करो कि हमारे हाथ में महा व्यथाकारक एक व्रण हुआ है, उसकी वेदना जागृतावस्था में होती है; परन्तु जब हम गाढ़ निद्रावश हो जाते हैं तब हमें उस दुःख का भान नहीं होता। इसका कारण क्या है? ज्ञानतन्तु इस समय भी तो अपनी-अपनी जगह में रहते हैं; परन्तु निद्रा में दुःख का ज्ञान नहीं होता। इससे हमें स्पष्ट मालूम होता है कि ज्ञानतन्तु और जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। डाक्टरों का यह कथन कि मस्तिष्क में ज्ञान शक्ति है, भ्रम से युक्त है। इन लोगों के कथनानुसार शरीर का प्रत्येक परमाणु ४० दिन में

अपना स्थान छोड़कर दूसरी जगह चला जाता है, उनकी यह क्रिया बराबर अव्याहत होती रहती है। हाथ के पहुँचे के परमाणु कितने ही वर्ष में पैर के तलवे में या शरीर के किसी अन्य मार्ग में चले जाते हैं। इस प्रकार सात वर्ष में वे सारे परमाणु निकल जाकर उनके स्थान में दूसरे नवीन परमाणु उत्पन्न होते हैं, यदि एक पुरुष एक वर्ष अथवा छः मास तक प्रति दिन दो सेर पेड़ा खाय तो इस क्रम के अनुसार कितने मन पेड़े उसके पेट में होने चाहिये। और उसका पेट कितना फूल जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार गंगा का पानी आगे बढ़ता है और उसकी जगह नवीन जल आता है उसी प्रकार हमारे शरीर की भी दशा है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु का रूप रूपान्तर होकर अन्त में वह नाश को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार सात वर्ष में यदि शरीर के सब परिमाणु निकल जाकर दूसरे नवीन उत्पन्न होते हैं तो यह देखना चाहिये कि हमारे उपर्युक्त दृष्टान्त के साथ इस बात का मेल कहाँ तक मिलता है।

एक ब्राह्मण का छः वर्ष का लड़का वेदाध्ययन के लिए काशी गया था। वह वहाँ साठ वर्ष की अवस्था तक रह कर अध्ययन करने के बाद लौटा था। बालकपन में जो वस्तुएं उसके देखने में आईं थीं उन सबका स्मरण उसे फिर भी था। इतने लम्बे समय में भी उसकी ज्ञान शक्ति और स्मरण शक्ति का नाश नहीं हुआ। ऐसी दशा में डाक्टरों के उपर्युक्त मत की वास्तविकता कितनी है, सो सहज ही मालूम हो सकती है। एक

बार, दो बार, इसी प्रकार क्रमशः दस बार जब ज्ञानतन्तु नवीन उत्पन्न होते हैं तब स्मरण शक्ति न रहनी चाहिये, पर वास्तव में यह ठीक नहीं है, यदि परमाणु ज्ञानतन्तु हो तो ज्ञान का नाश हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं। ज्ञानतन्तु और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। इतने से स्पष्ट हो जाता है कि, परमाणु शरीर से निकलते रहते हैं; पर आत्मा उस समय बनी रहती है, और केवल उसी से ज्ञान होता है। इसीलिए ज्ञान प्राप्ति बड़े श्रम से होती है।

वैदिक लोग मानते हैं कि जीव की उत्पत्ति और नाश नहीं। क्रिश्चियन और मुसलमान लोग जीव को आदि अन्तयुक्त मानते हैं, उनका कथन सृष्टि नियम के सर्वथा विरुद्ध है; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होना ही चाहिए, यह नियम है। जो जीव को अविनाशी मानते हैं वे पुनर्जन्म को भी मानते हैं। किन्तु कई लोग पुनर्जन्म स्वीकार नहीं करते। यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है, संस्कृत में इस विषय पर जो ग्रन्थ हैं उन्हें आजकल के हमारे बी० ए०, एम० ए०, समझ नहीं सकते।

ईश्वर, जीवात्मा, पुनर्जन्म इत्यादि न मानने वालों से हमारा प्रश्न है कि तुम्हारी शंका का मूल हेतु क्या है? प्रश्न करने में चार उद्देश्य रहते हैं। पहला जानकारी प्राप्त करने के लिए, दूसरा अनुमति लेने के लिए, तीसरा जानकारी कराने के लिए और चौथा सिर्फ कुत्सित रीति से दोष निकालने के लिए। इन चार प्रकारों में से तुम्हारा प्रश्न किस प्रकार है? सच्चे धर्म जिज्ञासु-पन से पूछने वाले विरले ही हैं; परन्तु निंदा का उद्देश्य रखकर

पूछने वाले असंख्य हैं। इस जगत् में सृष्टि के नियमानुसार प्रत्येक वस्तु का रूपान्तर होता है। उसी प्रकार जीव का रूपान्तर क्यों न होना चाहिये। सूक्ष्म रीति और शान्त चित्त से विचार करने वाले को तत्काल मालूम हो जाता है, कि पुनर्जन्म है या नहीं। जिस प्रकार शरीर में रक्त, माँस, उत्पत्ति, वृद्धि नाश इत्यादि भिन्न भिन्न रूपान्तर होते हैं, उसी प्रकार जीव की भी दशा होनी चाहिये, और वही पुनर्जन्म है। एक जन्म छोड़ कर दूसरा जन्म धारण करना जीव का रूपान्तर कहलाता है। एक पुनर्जन्म मानने वाले पुरुषों का यह आक्षेप है कि यदि "पुनर्जन्म का अस्तित्व है तो हमें पूर्व जन्म का स्मरण क्यों नहीं रहता? चूंकि हमें पुनर्जन्म की याद नहीं रहती, इस लिए यह मानना चाहिए कि पुनर्जन्म नहीं।" उनका यह कथन ऊपर से तो सच्चा भासता है परन्तु इस शंका का समाधान क्या है सो देखिये।

जीव जिस जगह से आता है उस जगह का ज्ञान उसे नहीं होता। मुसलमान लोग यह मानते हैं कि जीव को ईश्वर स्वर्ग से इस संसार में भेजता है, तब यह माता के गर्भ में प्रवेश करता है परन्तु हम कहाँ से आये, इसका ज्ञान उसे नहीं होता। जीव का ज्ञान यदि जीव को नहीं होता तो क्या हमें यह मानना उचित है कि, जीव है ही नहीं? अच्छा, जब हम छः महीने के बालक थे तब, हमारे मां कौन, बाप कौन, और बहन कौन? यह जानते न थे। तो इससे क्या यह मानना योग्य है कि हमारे मा, बाप, भाई. बहन इत्यादि कोई नहीं थे? यही हाल पुनर्जन्म का है,

जैसे बीज में वृक्षत्व मौजूद है, परन्तु यदि उसे पानी देकर जमीन में बोया न जाय और उसका योग्य उपाय न किया जाय तो उस का वृक्षत्व होना न होना बराबर है; यही हाल जीव का भी समझना चाहिये । जीव की दो शक्तियां हैं, सामान्य शक्ति और विशेष शक्ति, जागृतावस्था में सामान्य शक्ति और विशेष शक्ति यथास्थित होती हैं, स्वप्नावस्था में विशेष शक्ति सूक्ष्म स्वरूप में होती है और सुषुप्ति में उसका लय होता है, इससे उस अवस्था में कुछ जानने की शक्ति नहीं रहती । जहाँ तक जीवन की शक्ति ठीक-ठीक अपनी जगह पर रहती है वहाँ वह सब जान सकता है; पर जब वह ठीक जगह पर जब वह कुछ भी नहीं जान सकता, बाल्यावस्था में जो-जो बातें होती हैं उनका हमें स्मरण नहीं रहता, इससे यह कैसे मान सकते हैं कि उस समय कुछ था ही नहीं अथवा जीव ही न था । वास्तव में बात यह है कि उस समय ज्ञान शक्ति अत्यन्त ही सूक्ष्मावस्था में होती है ।

पतंजलि ऋषि ने कहा है कि योगसे पुनर्जन्म जाना जा सकता है * महाभारत में इस विषय के अनेक दृष्टान्त हैं। योग शक्ति खूब बढ़ाना चाहिये । पर हमारे समान मध्यमस्थिति के लोगों से यह हो नहीं सकता । कितने ही लोग एक देशीय अंग्रेजी ग्रन्थ पढ़कर उनके मन माने साँचे झूठे विचार लेकर, विद्वत्ता का

---

* महायोगेश्वर भगवान् कृष्ण ने भी गीता में अर्जुन से कहा है:—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ अ० ४-५

आडम्बर दिखला कर यह कहा करते हैं कि हमारे शास्त्रों में कुछ नहीं—वे बिल्कुल झूठे हैं— पर हम समझते हैं कि ऐसे लोगों को अपने शास्त्रों का कुछ भी पता नहीं है। आजकल के शिक्षित लोगों के मुख से जो यह वचन सदैव निकला करते हैं कि हमारे पूर्वज मूर्ख थे; हमारा धर्म कोरा आडम्बर मात्र अतएव मिथ्या है; हम में पहले कुछ भी पुरुपार्थ नहीं था ऐसे वचन कहना और उनको सुनना क्या थोड़े दुर्भाग्य की बात है ? जब कि एक आधुनिक प्रामाणिक अंग्रेजी ग्रन्थकार हमारे कला-कौशल के विषय में आदर प्रदर्शित करता है और अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रीति से स्वीकार करता है, कि इसी देश से सारी विद्या हमारे यहाँ आई है तब हमारे भाई (अल्पज्ञानी) निन्दक ग्रन्थों को पढ़कर अपनी निन्दा करते हैं—यह कैसी शोकजनक बात है। पहले आर्यावर्त सब कलाओं का मुख्य स्थल था । इस विषय में प्रसिद्ध राजर्षि कवि भर्तृहरि कहता है:—

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेश हतये
गता कालेनासौ विषय सुख सिद्ध्यै विषयिणाम ।
इदानीं सम्प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा
नहो कष्ट सोऽपि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति ॥२७॥

अहा ! कैसे दुःख की बात है कि जो विद्या पहले पंडितों के चित्त का क्लेश दूर करने का कारण थी वही विद्या, काल की गति से विषयी लोगों के विषय सुख सिद्ध होने का कारण हुई । और

यह देखकर महान कष्ट होता है कि आजकल राजाओं के शास्त्र विमुख होने से वह रही सही विद्या भी प्रति दिन अधोगति को प्राप्त होती जाती है।

एक क्रिश्चियन मिश्नरी विशप ने अपने व्याख्यान में कहा था कि, यद्यपि हमारे धर्मशास्त्र (वाइविल) में पुनर्जन्म के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है, तथापि यह बात नहीं है कि पुनर्जन्म मानने वाले हम से कुछ प्रत्युत्तर कर सकें। ईश्वर न्यायी है, यह जगत् के सारे शास्त्रों का सिद्धान्त है। उसके कालत्रय में भी अन्याय नहीं हो सकता तव फिर कोई अन्धा, कोई लँगड़ा, कोई दरिद्री, इस प्रकार जो अनेक लोग दुखी देख पड़ते हैं इसका क्या कारण है ? परमात्मा के न्यायी राज्य में क्या वास्तव में ऐसा हो सकता है ? नहीं, सच तो यह है कि अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार, न्याय रीति से, सव को दण्ड मिलना ही चाहिये। और यदि वह इस जन्म के अनुसार न हो तो वह अन्य जन्मकृत कर्म का परिणाम होना चाहिये। अच्छा, पुनर्जन्म न मानने वालों से हमारा यह प्रश्न है कि जो पुण्य करता है वह तो स्वर्ग को जाता है, और जो पाप करता है वह नरक को प्राप्त होता है; पर जो न पुण्य करता है, न पाप करता है; समता का आचरण करता है उसका मरने के वाद क्या होता है ? स्वर्ग प्राप्ति होने के योग्य पुण्याचरण न करने से जव स्वर्ग नहीं मिलता तो और नरक प्राप्ति होने के योग्य पापाचरण न करने से जव

नरक भी नहीं मिलता तब उसकी आगे क्या गति होती है ? इस प्रश्न का उत्तार कोई नहीं दे सकता। अतएव पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इससे भी स्पष्ट है कि पुनर्जन्म अवश्य है।

आत्मा अमर है

(पुनर्जन्म का सवाल)

इस विज्ञान युग में, जब कि संसार की सारी बातें विज्ञान की कसौटी पर कसी जाती हैं, बहुधा लोगों के ऐसे विचार हो रहे हैं कि आत्मा और कुछ नहीं, इसी जन्म के संस्कारों से बनी हुई चीज है, यह अमर नहीं है, तब पुनर्जन्म कैसा ? वे कहते हैं कि यह शरीर के साथ ही पैदा होती है और शरीर के साथ ही नष्ट होती है; पर उनका इस मोटी बात पर भी ध्यान नहीं जाता कि शरीर तो बना रहता है और आत्मा उसे छोड़कर चली जाती है, तब अवश्य ही यह कोई ऐसा तत्त्व है जो शरीर से विलक्षण है।

खैर, वैज्ञानिक लोग कुछ भी कहा करें, यह सच है कि संसार के सभी धर्म किसी न किसी रूप में आत्मा को अमर मानते हैं। हां, उनमें से कई पुनर्जन्म को नहीं मानते; पर मोक्ष को किसी न किसी रूप में, लाचार होकर, उन्हें मानना ही पड़ता है। कई लोग तो अमरत्व Immortality को ही मोक्ष मान बैठे हैं; पर यह उनका भ्रम है। वास्तव में अमरत्व तो आत्माका स्वाभाविक गुण है और आत्मा की जो आनन्द पूर्ण दशा अधिक काल रहती है, वही मोक्ष है। जो लोग अमरत्व को ही मोक्ष मान बैठे हैं उनमें से एक महाशय कहते हैं:—

"Christianity alone of the religions of the world, teaches that self-sacrifice is the way to life-eternal." p.69 Introduction to the study of Comparative Religion by Frank Byron Jevons.

"सारे संसार के धर्मों में एक सिर्फ ईसाई धर्म ही ऐसा है जो आत्म बलिदान को शाश्वत जीवन प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है।" इस कथन से हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है कि, उपर्युक्त तुलनात्मक धर्माध्ययन करने वाले महाशय को वैदिकधर्म से कुछ भी जानकारी नहीं है, अन्यथा वे ऐसा कहने का साहस कभी न करते।

जंगली लोगों से लेकर और बड़े बड़े सभ्य लोगों तक सभी लोग इस बात को मानते हैं कि मरने के बाद जीव किसी न किसी दशा में बना रहता है। हाँ, यह मत, मानने वाले के न्यूनाधिक

अज्ञान पर अवलम्बित रहता है। कोई कहता है कि मरने के बाद आत्माएं एक जगह एकत्र रहती हैं। कोई कहता है कि, वायु-मण्डल में उड़ती रहती हैं, कोई कहता है कि भूत योनि में रहती हैं। जो लोग चार्वाक की तरह यह मानते हैं कि देह और देह में रहने वाली आत्मा ये दोनों एक ही हैं उन्हें देहात्मवादी कहते हैं। ये लोग परलोक, पुनर्जन्म, मुक्ति इत्यादि कुछ भी नहीं मानते। ये कहते हैं:—

न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः
यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् न स्वर्ग है, न नरक है, और न कोई आत्मा है जो परलोक को जाता हो और न वर्णाश्रम आदि हैं कि जिनके धारण करने से कोई फल होता हो। बस, जब तक रहो; सुख से रहो, और ऋण लेकर भी ख़ूब घी मलीदा उड़ाओ; क्योंकि जहां एक बार शरीर भस्मीभूत हो गया कि फिर आना-जाना कहाँ का? ऐसे लोगों की कल्पना में भी यह बात नहीं आती कि देह से अलग, उसका चालक, कोई और भी है। कई धर्मों में तो यहाँ तक कहा है कि जीव अथवा आत्मा को देह के बाद अमर मानना पाप है। यहूदी लोगों के विषय में कहा है कि:—

Generally speaking, the hebrews regarded the grave as the final end of all sentient and intelligent

existence, the land where all things are forgotten. Smith's Dictionary of the Bible S. V. Sheol.

अर्थात् "यहूदियों में यह आमतौर पर कहा जाता है कि मरने के बाद मनुष्य के सचेतन या अचेतन तत्त्व में से कुछ भी शेष नहीं रहता। मृत मनुष्य को समाधिस्थ करने के बाद उसकी सारी बातों को भूल ही जाना चाहिए।" इस प्रकार निर्वन्ध करने में उनका एक उद्देश्य भी था। उस समय उन लोगों में मनुष्य पूजा बहुत बढ़ गई थी, और मृत मनुष्यों की पूजा की भी चाल थी, इससे ईश्वर को लोग भूल जाते थे। इसी लिए यहूदी धर्माभिमानी ज्ञाताओं ने उपर्युक्त नियम कर रक्खा था। इसीसे उनका यह विचार दृढ़ होगया कि देह के अतिरिक्त जीव का अस्तित्व भिन्न नहीं, अथवा इस देह के बिना जीव रह नहीं सकता। इस कारण उनका यह मत हुआ कि न्याय के अंतिम दिन तक सारे जीव देह सहित कवर में पड़े रहते हैं। परन्तु स्वप्न सृष्टि के उदाहरण से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस स्थूल देह के बिना भी देही अर्थात् आत्मा रह सकती है। जैसे किसी खास समय में किसी विशिष्ट स्थान में पड़े हुए, स्वप्न में हमारा जीव, कलकत्ता, बम्बई, हिमालय इत्यादि के दृश्य देख आता है। अब देखिए स्थूल देह तो अपने स्थान से हिला नहीं, यह प्रत्यक्ष है; और बिना देह के सारी यात्रा होगई; यदि स्वप्न के बीच में कहीं जागृति आ जाती है तो सब गायब हो जाता है, जहाँ पड़े रहते हैं वहीं का दृश्य दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है

कि बिना स्थूल देह के भी जीव रह सकता है। इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्य को है। इससे यह मानना पड़ेगा कि देह ही जीवात्मा नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि क्या शरीर के बाद जीव बना रहता है, अर्थात् आत्मा क्या अमर है। इस प्रश्न का उत्तर कृष्ण भगवान् ने अपनी गीता में बहुत अच्छी तरह दिया है। गीता में आत्मा का अमरत्व ही विशेष करके प्रतिपादित किया गया है। दूसरे अध्याय में कहा है कि:—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अर्थात् कौमार, यौवन, जरा इत्यादि देह की अवस्थाओं में जैसे आत्मा एकसा बराबर बना रहता है—वह बदलता नहीं और न देह के साथ क्षीण ही होता है—वैसे ही देहान्तर होने पर भी, एक देह छोड़कर दूसरी देह में जाने पर भी, वह वैसा ही बना रहता है—आत्मा से वियुक्त होकर देह सड़ गल या जल कर नष्ट हो जाता है; पर आत्मा देह से वियुक्त होकर भी अपनी पूर्व दशा में ही बना रहता है। उसी अध्याय में फिर कहा है कि:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अर्थात् हे अर्जुन! जीव, आदि में अव्यक्त होता है, अर्थात् दिखाई नहीं देता और मध्य में, अर्थात् देह धारण करके प्रकट

हो जाता है और देह छोड़ने के बाद फिर दिखाई नहीं देता; पर बना रहता है। इसमें कोई आश्चर्य या खेद की बात नहीं है, परन्तु जो देह के साथ ही जीव की भी समाप्ति मानते हैं उनको दुःख होना स्वाभाविक है।

आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों में जब कोई मनुष्य बिना किसी रोग के अचानक मरता है तब उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है और वे समझते हैं कि यह वास्तव में मरा नहीं–यह किसी पुरुष या स्त्री का जादू है। इनके विषय में एक अंग्रेज ग्रन्थकार कहता है:—

"No such thing as natural death is realised by the native; a man, who dies has of necessity been killed by some other man or perhaps even by a woman". Native Tribes of Central Australia p. 48.

ऐसे ही मतों के कारण बहुत से लोग यह आशा करते हैं कि इस प्रकार मरा हुआ हमारा प्रेमी अवश्य ही फिर किसी न किसी रूप में हम से मिलेगा। चाहे कोई यह कहे कि मृत्यु को ब्रह्मा जी ने पैदा किया, चाहे यह कहो कि यह "जम" की "जमुहाई" से पैदा हुई, अथवा यों कहो कि सर्परूपी शैतान के सिखाने से ईव्ह के धोखा देने पर, आदम ने "जीवन वृक्ष" का फल खा लिया, इस कारण मृत्यु उत्पन्न हुई, चाहे कोई कैसा ही कथानक बाँधो; परन्तु मृत्यु आत्मा को नहीं छू सकती और जिन लोगों को इस मत पर विश्वास है वे अपने विश्वास को भी नहीं छोड़ सकते।

आस्ट्रेलिया के युहलिया जाति (Auahlyiatribe) के लोगों की ऐसी समझ है कि, मरा हुआ लड़का फिर उसी मा के पेट में आता है। मि० किंग्सले नामक एक स्त्री कहती है कि पश्चिमी अफ्रीका में यह चाल है कि लड़का अथवा लड़की को नाम रखते समय, कई खिलौने दिखाए जाते हैं और जो चीज़ वह लेता है वह जिस मृत मनुष्य की होती है उसी के नाम पर उस लड़के का नाम रखा जाता है। इसी प्रकार की बहुत सी चालें यूरप और भारतवर्ष में दिखलाई जा सकती हैं। इन बातों से भी पुनर्जन्म की ही पुष्टि होती है। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हेगल साहब के अनुयायी डा० मेक रागर्ट ने भी कहा है कि:—

We may say that, in spite of the loss of memory it is the same person who lives in the successive Lives"—Some Dogmas of Religion.

"यद्यपि यह बात सच है कि पिछले जन्म की याद हमको नहीं रहती, तथापि वही जीव बारबार जन्म लेता है।"

कई लोगों का मत है कि जीव एक देह को त्याग कर तुरन्त ही दूसरा जन्म नहीं धारण करता; किन्तु कुछ काल तक बीच में वह किसी अन्य अवस्था में भी रहता है। इस विषय में भी लोगों के भिन्न भिन्न विचार हैं। कोई कहते हैं कि उस दशा में जीव वृक्षों में रहता है; कोई कहता है कि, पशुओं में प्रविष्ट होता है और कुछ लोग कहते हैं कि वह दशा भूतयोनि है। अवश्य ही ये विचार अज्ञानी लोगों के हैं। क्योंकि गीता में आत्मा

का अमरत्व और पुनर्जन्म का वर्णन करते हुए यह भी कहा है:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।२-२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतार कर दूसरे नवीन वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है ऐसे ही देहधारी (आत्मा) पुराने देहों को त्याग कर अन्य नवीन देह धारण कर लेता है। यह देह उसको अपने सत्वरजतमात्मक कर्मों के अनुकूल मिलती है। मनु महाराज कहते हैं:—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधागतिः।

सात्विक कर्म करने वाले देव कोटि के मनुष्य होते हैं। राजसी कर्म करने वाले मध्यम श्रेणी के मनुष्य होते हैं, और तामसी कर्म करने वाले वृक्ष, पशु, पक्षी, कीट इत्यादि नीच योनियों में जन्म पाते हैं। इसी लिए मनुष्य को उत्तमोत्तम कर्म करके सदाचार से वर्तना चाहिए। ताकि उसकी अधोगति न हो।

जब यह सिद्ध है कि पूर्व कर्मों के अनुसार जन्म मिल कर सुख या दुःख का भोग मिलता है, तब अवश्य ही जीव के साथ कर्म शेष रहता है। यह बात बौद्ध धर्म में भी मानी गई है; पर वे लोग पुनर्जन्म नहीं मानते। हाँ जीव का जन्म आभास रूप में मान कर मरने के बाद निर्वाण अर्थात् उसका लय मान लिया है। पर यह क्रम कुछ ठीक बैठता नहीं।

आत्मसंयम और स्वार्थ त्याग का तत्त्व बुद्ध ने माना है; पर जगत् को सत्य न मान कर भ्रम रूप माना है। परन्तु यदि संसार मिथ्या है तो फिर परोपकार, आत्म संयम, स्वार्थ, त्याग, इत्यादि का कुछ मतलब ही नहीं समझ पड़ता।

इसी तरह नवीन वेदान्ती भी संसार को भ्रमरूप तथा मिथ्या बतला कर कहते हैं कि जो कुछ है सब ब्रह्म ही है, जीव भी ब्रह्म ही है, अज्ञान का पड़ता बीच में है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जीव, ईश्वर, प्रकृति, ये तीनों सत्य, अनादि हैं। जीवात्मा परमात्मा का सेवक है। उसी की सेवा से इसको परमानन्द या अलौकिक सुख प्राप्त होता है और यह अपने अमरत्व का, सच्चिदानन्द के साथ अनुभव करता है।

मानसिक बल

मनुष्य में परमात्मा ने जो शक्तियाँ प्रदान की हैं उनमें "मन" एक बड़ी महत्त्वपूर्ण शक्ति है, मन के कारण ही मनुष्य का "मनुष्य" नाम पड़ा है। मन मनुष्य की सारी इन्द्रियों का राजा है और इन्द्रियों के द्वारा वह संसार के सारे कामों को करता तथा जानता है। ऐसी दशा में मानसिक बल की मनुष्य में कितनी आवश्यकता है सो सभी विचारशील जान सकते हैं।

मुनियों और मनीषियों ने मन को मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण बतलाया है। वास्तव में मन की दो दशाएं हैं।

एक विकारी मन और दूसरा निर्मल या शुद्ध मन। विकारवान् मन ही वन्धन का हेतु है, और शुद्ध मन मोक्ष का कारण है। जिसका मन शुद्ध है, जिसके मन में बुरी भावनाएं नहीं उठती हैं वही मोक्ष का अधिकारी होता है।

कई वेदान्तियों से हम ने सुना है कि कर्म वन्धन का हेतु है; पर यह वात हमारी समझ में नहीं आई, क्योंकि सच तो यह है कि कर्म की बुराई वन्धन का हेतु हो सकती है। विहित कर्म तो मोक्ष के लिए आवश्यक हैं। और विहित या निषिद्ध कर्म करना सर्वथा मन के आधीन है। क्योंकि महर्षियों ने कहा है:—

यन्मनसा ध्यायतितद्वाचा वदित, यद्वाचा वदति
तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

जो कुछ मन में विचार आता है, वही वाणी द्वारा प्रकट होता है। और वही कर्म द्वारा होता है तथा उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है। अतएव मन ही कारण हुआ फल प्राप्ति का। मन वचन, कर्म इन तीनों का परम्परागत सम्बन्ध है, सारांश जैसा मन शुद्ध या अशुद्ध, निर्वल या सवल होगा वैसी ही फल सिद्धि भी होगी। इसीलिए वेद भगवान् मनुष्य को मन में सद्विचार आने के लिए परमपिता की प्रार्थना करने की आज्ञा देते हैं:—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवंतदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥य. ३४-१॥

इत्यादि कई मन्त्रों में मन की महिमा वतला कर इसके शुद्ध

होने के लिए प्रार्थना की गई है। मन जागृति और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में अपना सोचने का काम किया करता है। इसकी सामर्थ्य और इसकी शक्ति बहुत बड़ी है; परन्तु इससे कल्याण तभी हो सकता है कि जब इस में सदैव शुभ संकल्प ही उठा करें, बुरे विचार इस में कभी न आवें। और ऐसे ही शुद्ध मन से परमानन्द या मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

यह बात तो सभी चाहते हैं कि हमारे मन में बुरे विचार कभी न आवें। हम सदा शान्ति और आनन्दमय रहें, दुःख का भान भी न हो और इसके लिए सदा सब लोग प्रयत्न करते भी रहते हैं; परन्तु संसार की गति ही कुछ ऐसी है कि मन को आघात पहुँचाने वाली घटनाएं यहाँ घटती रहती हैं, उन घटनाओं को सहते हुए जो अपने मन को वश में रखता है उसे चंचल अस्थिर, या विकारपूर्ण नहीं होने देता—वही सच्चा धीर वीर और गंभीर है और उसी के अन्दर मानसिक बल समझना चाहिये। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब अचानक महावीर अर्जुन के मन में मोह पैदा हुआ—मानसिक निर्बलता ने उसे आ पछाड़ा तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के अन्दर मानसिक बल उत्पन्न करने के लिए गीता का उपदेश दिया। उस समय अर्जुन ने कहाः—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ अ० ६-३४

हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल है, बड़ी प्रबलता से अपनी ओर

विपयों को खींचता है, इसे वश में रखना ऐसा है जैसे वायु को बांधना ! इस पर श्रीकृष्ण ने मनोनिग्रह का उपाय इस प्रकार वतलायाः—

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ अ० ६–३५

हे महावीर इस में कोई संदेह नहीं कि मन वहुत कठिनता से वश में हो सकता है, और यह चंचल भी वहुत है। तथापि अभ्यास और वैराग्य से इसको वश में कर सकते हैं, वस, मानसिक वल को प्राप्त करने के दो साधन श्रीकृष्ण ने वतलाये। एक सद्गुणों की ओर, मन को लगाना और दूसरे विपयों से, दुर्व्यसनों से, उसे हटाना।

हमारे मन के अन्दर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, अहंकार, मत्सर, ईर्पा, द्वेप, भय शोक इत्यादि विकार जो उठा करते हैं इनसे मन निर्वल होता जाता है, मन को कमजोर वनाने वाले यही वड़े रोग हैं। इनके सिवाय वाहर से भी मन को अशान्त करने वाले अनेक कारण उपस्थित रहते हैं। उन सव कारणों में दुष्ट या धूर्त या स्वार्थी पुरुपों का संस्कार वड़ा भारी तूफान है। इस तूफान से धैर्य या शान्ति वहुत जल्द नष्ट होने लगती है। धूर्त या स्वार्थी आदमी अपना स्वार्थ साधन करने के लिए अकसर हमारे मन को भड़काते रहते हैं, हमारे मन को हमारे ही विरुद्ध भड़काते हैं अथवा किसी सज्जन सदाचारी महाशय के विरुद्ध मन को उत्तेजित करते हैं।

यदि हम चाहते हैं कि इन बाहरी और भीतरी रोगों से ग्रस्त होकर हमारा मन निर्बल न हो तो हमको चाहिये कि हम विवेक या बुद्धि से काम लें । अपनी वाणी और अपने कर्मों को शुभ मार्गों में लगा कर अपने मन के काम क्रोधादि शत्रुओं को जीतें और विवेक के द्वारा सत्यासत्य का विचार करके सत्य को मानें और असत्य का त्याग करें। जो क्षुद्र जीव या धूर्त, स्वार्थवश, होकर, हमारे मनको समय-समय पर, अशान्त किया करते हैं उनकी बातों की सत्यता और असत्यता की जाँच करें तथा उन धूर्तों से अपना सम्पर्क बिल्कुल न रखें।

अक्सर देखा गया है कि धूर्त लोगों ने हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर हमें अपने मित्र लोगों के सन्मुख ही नीचा देखने का अवसर ला दिया, ऐसे अवसरों पर लज्जा और पश्चाताप के सिवाय और कुछ हाथ न आया, इसलिए विवेक शक्ति को कभी अपने हाथ से न जाने देना चाहिये। बिना इस शक्ति के हम शत्रु मित्र की पहचान नहीं कर सकते। यह जानना चाहिए कि जो लोग ऊपर से बहुत ही नम्र और शालीन बने हुए, हृदय के काले, धूर्त लोग हमारे पास बार-बार आकर चापलूसी करते हैं, मीठी-मीठी बातें करके अपना स्वार्थ साधन तथा दूसरे की हानि कराना चाहते हैं वे हमारे सच्चे मित्र नहीं हैं, उनकी बातों में हमें कभी भी न आना चाहिए। किसी हिन्दी कवि ने कहा है कि:—

डहकत फिरत जे लोक में, तिनको ठगिया जान।
तिनको मत पतियाइये, कही हमारी मान॥

जो संसार में लोगों की ठकुर सुहाती कहते फिरते हैं उनको ठगिया या धोखेबाज़ समझो, उनका विश्वास मत करो। मनकी दृढ़ता या साहस से ऐसे धूर्तों को फटकार दो और उनसे सम्बन्ध न रखो। अन्यथा उनके कारण अवश्य ही हमें कभी न कभी पछताना पड़ेगा, आज पछताना पड़े या कल। नीति में कहा है कि:—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

हे महाराज! सदैव प्रिय बात बोलकर चाटुकारी करने वाले अनेक पुरुष मिलेंगे; परन्तु अप्रिय किन्तु हितकारी वचन कहने या सुनने वाले बहुत मुशकिल से मिलेंगे। परन्तु सच्चा मित्र वही है, चाहे अप्रिय कहे, परन्तु हितकी बात कहे, जिसमें कुछ मानसिक बल होगा वही मनुष्य अप्रिय किन्तु हितकारी बात को कहे और सुनेगा और इसी में दोनों का कल्याण हो सकता है:—

सारांश जैसे व्यासजी ने योग दर्शन का भाष्य करते हुए कहा है कि:—

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेक विषय निम्ना सा कल्याण वहा।

संसार प्राग्भाराऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा।

मनरूपी नदी दोनों ओर को बहती है, अर्थात् कल्याण की ओर, और पाप की ओर भी, जो मुमुक्षारूपी पहाड़ से निकल कर विवेक के मैदान में बहती हुई जाती है, वह कल्याण के सागर से मिलती है, और जो विषयों के पर्वत से निकल कर अविवेक रूपी भूमि में बहती हुई जाती है, वह पाप के समुद्र को प्राप्त होती है। इसी लिए मुनियों ने कहा है कि मन को सदा शुभ संकल्प और विवेक से संलग्न रखो, तथा विषय लोलुपता, मिथ्या विश्वास, अविवेक इत्यादि से दूर रक्खो, तभी पाप से दूर रहकर कैवल्य को प्राप्त हो सकते हैं। मनका लक्षण ही महर्षियों ने यही किया है:—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

मन का लक्षण यह है कि इसमें एक साथ एकही काल में, दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, अर्थात् भले बुरे विचार दोनों एक ही समय इसमें नहीं आ सकते, यह सुभीता है, अर्थात् बुरे विचारों को न आने देने के लिए यह आवश्यक है कि हम मनको सदविचारों से अवकाश ही न पाने दें, सदैव शुभ संकल्प मन में बनाये रखें, उससे मानसिक बल हमें स्वाभाविक ही प्राप्त होगा।

ईश्वरीय ज्ञान (वेद)

विद्या

"जिससे ईश्वर से लेकर पृथ्वी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है।"

—महर्षिदयानन्द।

विद्या और अविद्या यह दो ऐसे पदार्थ हैं कि जिनके वश में पड़कर मनुष्य सुख या दुःख अथवा शुभ या अशुभ को प्राप्त होता है। विद्या सुख का हेतु है, और अविद्या दुःख का हेतु है। हृदय में जो किसी वस्तु का ज्ञान और भान होता है उसी का नाम विद्या है। विद्या के प्राप्त करने का साधन बुद्धि है। किसी

वस्तु की सत्यता या असत्यता का हृदय में विचार करके बुद्धि के द्वारा निश्चय करना विद्या है। यह शक्ति मनुष्य में ही हो सकती है। मनुष्येतर प्राणियों में परमात्मा ने यह शक्ति नहीं दी वे अज्ञानी या मूढ़ होते हैं। इसी लिये कहा जाता है कि—"विद्याविहीनः पशुः" विद्या से जो विहीन हैं वही पशु हैं, महर्षियों ने विद्या का लक्षण इस प्रकार किया है:—

वेत्ति पदार्थानां तत्त्वस्वरूपं यया सा विद्या।

अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे, जैसे को तैसा समझा जाय उस शक्ति का नाम विद्या है। इसी तरह इन्द्रियों अथवा संस्कारों के द्वारा जो सत्य प्रमाण रूप ज्ञान होता है वह विद्या है। विद्या दो प्रकार की है, परा और अपरा। सर्व व्यापक, सर्व शक्तिमान्, शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वरूप योगीजनों का परमतत्त्व जो परब्रह्म परमात्मा है उसका ज्ञान जिसके द्वारा होता है वही परा विद्या है। मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्मयद् ब्रह्मविदो वदन्ति। पराचैवापरा च ॥१।४॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों का कथन है कि विद्या के दो भेदों को भली भाँति समझ लेना चाहिए—अर्थात् एक तो परमात्म विषयक परा विद्या और दूसरी धर्माधर्म तथा उनके फल को बतलाने वाली अपरा विद्या। आगे चल कर उसी उपनिषद् में कहते हैं-

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा

कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।५।

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद अथर्ववेद ये चार वेद और इनके शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष ये छै अंग-ये सब मिल कर विद्या कहाते हैं, इनमें ज्ञान का जो वर्णन है, अर्थात् वेद वेदाङ्गों में जो ब्रह्म प्रतिपादक ज्ञानकाण्ड है, वह पराविद्या है, और जो कर्म और उपासना कांड का भाग है, अर्थात् जिसमें त्रिगुणात्मक संसार का वर्णन है वह अपराविद्या है। परा और अपरा विद्याओं के द्वारा ही मनुष्य सत्य ज्ञान या परमात्मा के स्वरूप को जान सकता है। एक आधुनिक कवि ने विद्या का फल धर्म इस प्रकार बतलाया है:—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

विद्या विनय देती है और विनय से पात्रता अर्थात् योग्यता आती है, योग्यता से धन प्राप्त होता है, धन से धर्म और तब सुख प्राप्त होता है। अर्थात् पार लौकिक और लौकिक दोनों ही सुखों के प्राप्त करने के लिए विद्या की आवश्यकता है। पृथ्वी से लेकर परमात्मा तक सब वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उन वस्तुओं से अपना तथा संसार का उपकार करना विद्या से ही हो सकता है। प्राचीन काल में हमारे ऋषियों ने परा और अपरा अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों विद्याओं में

पूरी उन्नति की थी और आज पश्चिमी विद्वान् आधिभौतिक विद्या अर्थात् 'विज्ञान' या साइंस की पराकाष्ठा तक पहुँच गए हैं। परन्तु पराविद्या या अध्यात्म शास्त्र का उन्हें कुछ भी बोध नहीं है, यही कारण है कि उन लोगों को सुख शान्ति नहीं है, चारों ओर मारकाट की अशान्ति छाई हुई है। भौतिकता का यह फल ही है। वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान के बिना भौतिक विज्ञान में भी शान्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता। केवल भौतिक विज्ञान की अत्यन्त उन्नति परमात्मा से दूर करके प्रकृति उपासना में रत करती है, जिसका बुरा फल वेद भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं:—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳪंरताः ॥यजु४०।९॥

अर्थात् जो असंभूति या अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण की उपासना करते हैं वे अन्धकार या अज्ञान और दुख सागर में डूबते हैं, तथा सम्भूति अर्थात् कारण से उत्पन्न हुए जड़ चेतन भूतों की जो उपासना करते हैं वे उस अंधकार से भी अधिक अंधकार अर्थात् महामूढ़ता में चिरकाल घोर दुःख में पड़े रहते हैं।

हमें खेद होता है कि जब हम यह देखते हैं कि अध्यात्म विद्या प्रधान आर्यावर्त भी पश्चिमी भौतिकता की ओर बड़ी तेज़ी से जा रहा है, तथा कई बातों में तो यह और भी अधिक अंधकार में डूबता जा रहा है। अस्तु !

साधारण विद्या से ही जीवन सार्थक नहीं हो सकता, किन्तु उसके साथ विनय की आवश्यकता है। कहा भी है—'विद्या विनयेन शोभते" विद्या विनय से ही सुशोभित होती है, यदि विद्या के साथ विनय होगा तो वह विद्या कार्यकारिणी तथा संसार के लिए उपयोगी होगी और यदि विद्या के साथ विनय न हुआ किन्तु इसके प्रतिकूल गर्व या अभिमान हुआ तो उस विद्या में कर्तृत्वशक्ति नहीं आ सकती–अभिमान पूर्ण विद्या से विवाद उत्पन्न होता है और संसार को लाभ नहीं पहुँचता। कविवर टेनीसन का कथन है:—

Let knowledge grow from more to more
And reverence with it in us dwell.

विद्या और विनय से जो सम्पन्न होता है वही ब्राह्मण ब्रह्म को जान सकता है, और वही संसारोपयोगी कर्म भी कर सकता है। तथा जो क्रियाशील विद्वान् है वही सच्चा विद्वान् भी है।

विद्या के सच्चे स्वरूप को पहचाने विना उसका प्राप्त करना कठिन है। इसलिए स्वाध्यायशील बनना चाहिये, वेदादि धार्मिक ग्रन्थों का मनन प्रति दिन यदि नियम से किया जाय तो विद्या का स्वरूप समझने में सरलता हो। इसके सिवाय परमात्मा की इस मनोहर और विलक्षणता पूर्ण सृष्टि की सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण भी करना चाहिए। जंगल पहाड़ों में जाकर वहाँ के मनोरम दृश्यों को देखना, सोते, झरने, झील सरिताओं के प्राकृतिक दृश्य देख कर सृष्टि कर्ता की महिमा को हृदय में अनुभव करना भी

विद्या के स्वरूप को समझने का साधन हो सकता है; पर इन प्राकृतिक पदार्थों को ही सर्वस्व न मान लेना चाहिए, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप तथा इनका परस्पर सम्बन्ध समझने के लिए योगाभ्यास तथा संत समागम की भी ज़रूरत है, इससे पराविद्या का स्वरूप मालूम हो जाता है। विद्या विलास में मनको रमाना, संसार के दुःखी जीवों को दुःख से उबारना, अन्याय से पीड़ित जनों को मुक्त करना तथा शान्ति पूर्वक जीवन यात्राक्रमण करना यही आर्य जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।

वेद प्रभु की वाणी है

आर्य जाति का जो ह्रास हो रहा है, उसका मुख्य कारण यही है कि इस जाति में स्वाध्याय की रीति बन्द होगई है। ईसाई, मुसलमान, जैनी, इत्यादि सभी प्रातः काल उठ कर अपने अपने सवमान्य ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रति दिन करते हैं; परन्तु हमारे आर्य पुरुष और आर्य देवियों का इस ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं है। पौराणिक आर्यों में अभी कुछ कुछ स्वाध्याय की प्रथा है, पर वह भी ठीक नहीं है, वे लोग भिन्न भिन्न धार्मिक ग्रन्थों का पाठ मात्र कर लेते हैं। वेद को सभी आर्य मानते हैं। और यह भी मानते हैं कि वेद सब विद्याओं का भण्डार है, तथापि इस सर्व मान्य ग्रन्थ का स्वाध्याय नहीं किया जाता। हमारी सम्मति

में, जैसे प्रत्येक मुसलमान क़ुरान का स्वाध्याय करना अपना धर्म समझता है, प्रत्येक ईसाई बाइबिल का स्वाध्याय करना कर्त्तव्य समझता है, इसी प्रकार प्रत्येक आर्य, प्रत्येक हिन्दू को वेद का स्वाध्याय करना अपना परमधर्म समझना चाहिये।

वेद पर हमारा इतना जोर क्यों है, इसी लिए कि वेद प्रभु की वाणी है। इसका प्रमाण भी है। पुरुष सूक्त का सातवाँ मंत्र बतलाता है:—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यजुः० अ० ३१ मं० ७

अर्थात् उस ज्ञान स्वरूप सब के उपासनीय परमात्मा से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। दर्शनों और उपनिषदों के भी अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं, जिनमें स्पष्ट कहा है कि वेद परमात्मा की वाणी है। उपनिषद् भी वेद के ही आधार पर हैं। इसी लिए उनका बड़ा महत्त्व है। शोपनहार का कथन प्रसिद्ध है, जो कि उसने उपनिषदों के विषय में कहा है कि इनसे ही हमारे जीवन को शान्ति मिली है, और आगे भी मिलेगी। महाविद्वान् श्लीगल कहता है:—

आर्यों की फिलासफ़ी मध्यान्ह के सूर्य की अद्भुत प्रभा के समान है। यूरोपीय विद्वान् उसके सामने एक चिंगारा है जो ऐसा कमज़ोर और टिमटिमाता है कि सर्वथा उसके बुझने का डर रहता है।

केनोपनिषद् वेद की महिमा गाते हुए कहता है कि तप, दान इत्यादि शुभ कर्मों का अभ्यास करने के लिए वेद और वेदाङ्ग पढ़ना चाहिये। इसके विना परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते। इसी प्रकार सब उपनिषदों में वेदों की महिमा गाकर बतलाया गया है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, और उसके विना परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुण्डकोपनिषद् में परमात्मा के रूप की कल्पना करते हुए कहा है:—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥२।१।४॥

अर्थात् अग्नि परमात्मा का मुख, चन्द्र और सूर्य चक्षु, दिशा कान और विस्तृत वेद उसकी वाणी है। वायु प्राण है, सारा विश्व उसका हृदय है और पृथिवी उस सर्वभूतान्तरात्मा का चरण है। इसमें 'वाग्विवृताश्चवेदाः' यह स्पष्ट बतला रहा है कि वेद उस प्रभु की वाणी हैं, वृहदारण्यक में कहा है:—

अस्य महतो भूतस्य निस्वसितमेतत्
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इत्यादि।

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इत्यादि उस परमात्मा का श्वास हैं। इससे स्पष्ट है कि वेद परमेश्वर से प्रकट हुए हैं। इस लिए वेद के वचनों में ही हम सब आर्यों को परमपिता की प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

वेद प्रभु की वाणी है

कई लोग कहते हैं कि वेद बच्चों की बिलबिलाहट या गड़-रियों के गीत हैं। यह कैसा बड़ा भारी भ्रम है। उपनिषदों की तरह दर्शन भी कहते हैं कि वेद के वचन परमात्मा के वचन हैं और इसलिए वे स्वतः प्रमाण हैं।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्-वैशेषिका। वेद में जो बात कही गई है वह बुद्धिपूर्वक है, (बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेद) फिर भी वेद को बच्चों की बिलबिलाहट बतलाना कितनी ना समझी है। सच तो यह है कि यदि वेद समझ में न आता हो तो बुद्धि लड़ाना चाहिये। यदि वेद हमारी समझ में नहीं आता तो यह हमारा ही दोष है; क्यों कि हम उसके समझने का प्रयत्न नहीं करते। वेदों को स्वतः प्रमाणता पर कपिलमुनि अपने सांख्यदर्शन में कहते हैं:-

निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥५।५१॥

वेद परमात्मा की निज स्वाभाविक शक्ति से प्रकट हुए हैं, अतएव वे स्वतः प्रमाण हैं। वेदान्त दर्शन में "शास्त्रयोनित्वात्" कहा है। अर्थात् वेद शास्त्र परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है। वेद सूर्य की तरह है। सूर्य जैसे सारे संसार को दिखलाता है और स्वयं अपने को भी दिखलाता है उसी प्रकार वेद के द्वारा हम सारे ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं और वेद को भी वेद ही द्वारा जान सकते हैं। परमात्मा ने ही वेद का उपदेश सृष्टि के आदि में किया है यही बात महर्षि पतंजलि भी अपने योगदर्शन में कहते हैं:—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

किसी काल में न नाश होने वाला परमात्मा ही गुरु है। और उसी ने सृष्टि के आदि में वेद ज्ञान का उपदेश किया है।

वेदों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उनमें एक परमात्मा की पूजा बतलाई गई है, इस बात को विदेशी तक स्वीकार करते हैं, प्रसिद्ध ऐतिहासिक मार्शमैन कहता है:—

वेदों का विशेष सिद्धान्त परमात्मा की एकता है, भूतों और छोटे देवताओं को वेदों में परमात्मा की शक्ति के तौर पर माना गया है; यह कभी नहीं कहा गया कि तुम उसकी पूजा करो।

यजुर्वेद में भी "तदेवाग्निस्तदादित्य" इत्यादि मंत्र में यही बतलाया गया है कि उसी परमात्मा के अग्नि, आदित्य, इत्यादि अनन्त नाम हैं। उसकी कोई मूर्त्ति नहीं:—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः य ३२।३

उस महान् यश वाले परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं हो सकती। उसकी प्रतिमा की कल्पना करके मानों उसकी व्यापकता को संकुचित बतलाना है। जिस परमात्मा की भौतिक सृष्टि में अनेक अघटित घटनाएं हुआ करती हैं, जिसकी महिमा का पारावार नहीं, वह किसी भी एक बड़े से बड़े भौतिक पदार्थ में भी नहीं बंध सकता है। वह नित्य मुक्त, शुद्ध बुद्ध, सर्वव्यापक, अनन्त है। वेदों में उसी "एक मेवाद्वितीयम्" की महिमा भरी हुई है। इसलिए हे आर्य भ्राताओ और देवियो! उस एक मात्र वेदका स्वाध्याय हम को करना चाहिए।

विश्व पर वैदिक धर्म का प्रभाव

भूगोल के सारे अनुपम और सुहावने देशों में भारत का नम्बर पहला है। आज मैं आप को भारत वर्ष के एक अनुपम दृश्य की साधारण छटा का दर्शन कराता हूं। मैं आपको हिमालयस्थित सिंह पर्वत की सैर कराता हूं, जो सुन्दर नगर दार्जिलिंग से साढ़े तीन कोष के अन्तर पर है। यहां की ऊँचाई समुद्र के धरातल से ८४०० फ़ीट है। यह प्रातःकाल का समय है, विस्तृत तारागण समूह अनन्त आकाश की गोद में लीन हो रहे हैं, और अत्यन्त प्रकाश सम्पन्न भुवन भास्कर की विमल छटा फैलनी आरम्भ हो गई है। हमारे सामने वृद्ध हिमालय के

हिमाच्छादित शिखर हैं, जो अनन्त काल से वर्फ से ढक रहे हैं। पर्वत श्रेणियों की गिनती ही नहीं की जा सकती। घने जंगलों के ऊपर नभमण्डल में मेघों का समूह, मनोरम घाटियां और कलकल नाद पूरित झरने कैसी शोभा दे रहे हैं। किन्तु सूर्य भगवान् के आगमन की सूचना पाकर सारे ही पदार्थों ने शान्ति ग्रहण कर रक्खी है। शिर के ऊपर आकाश प्रकाशमान हो रहा है। और उसके कारण नीचे के स्थल भली भांति स्पष्ट से हो रहे हैं, क्योंकि सूर्य की प्राथमिक किरणों ने लाखों करोड़ों मील की दूरी पार कर इस समय सब से उच्च शिखर मांउंट एवरेस्ट की २६००२ फ़ीट की ऊंचाई पर अपना अधिकार जमा रक्खा है। ये द्रुतिगामिनी किरणें वह देखो किंचनचिंगा, धवलागिर तथा अन्यान्य उच्च शिखरों पर पहुंच रही हैं। थोड़े ही क्षणों में इन हिमाच्छादित शिखरों का रङ्ग सुनहले से रुपहले में परिणत हो रहा है, मानों छाया और प्रकाश के मध्य के अन्तर का बोध कराता है।

ये हैं प्रभावोत्पादक और मनोमुग्धकारी दृश्य जिनके मध्य अवस्थित हो हमारे प्राचीन आर्यों ने ऐतिहासिक काल से भी पूर्व अपनी आश्चर्यजनक सभ्यता में वृद्धि प्राप्त की थी, शीघ्र भूल जाना मनुष्य जाति का स्वभाव ही है। प्राचीनता का भण्डार प्रकाश पुंज से परिपूर्ण है; अबलों उस प्रकाश पुंज की एकाध किरण ही हम तक पहुँच पाई है। मध्य रात्रि में जन्म पाये हुए बालक की नाईं जब हम सूर्योदय का अवलोकन करते हैं तो हम सोचने लगते हैं कि इसके पूर्व कभी

दिन हुआ ही नहीं था। भारत में आर्यों के आगमन का समय ऐतिहासिक काल से भी पूर्व का है; किन्तु रामायणकाल में, जिसे यदि दस सहस्र वर्ष भी मान लिया जाय, आर्यों की सभ्यता स्पष्ट और उन्नति प्राप्त थी। आर्यावर्त्त के प्राचीन इतिहास की दूसरी स्पष्ट घटना महाभारत है। इन दोनों ही काल के दो भिन्न भिन्न वीरतापूर्ण इतिहास-काव्य ऐसे हैं जो उस सभ्यता पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। इन्हीं दोनों कालों के मध्यवर्त्ती काल में भारत को छोड़ कर कुछ लोगों ने भूगोल के अन्यान्य देशों में जाकर वसना आरम्भ किया। इसी समय में आध्यात्मिक उन्नति तथा तत्त्वज्ञान सम्वन्धी कार्यों की रचना हुई। यही काल था जब कि भारतीय साम्राज्य अपने पूर्ण प्रकाश को प्राप्त था। राम और युधिष्ठिर के क्रमशः अयोध्या और दिल्ली के राज्योत्सव वहुत काल तक लोगों में उत्साह संचार करते रहे और अब तक भारत निवासियों के हृदय क्षेत्र में सनसनी पैदा कर रहे हैं। नाशकार महाभारत युद्ध ने उस सभ्यता को वहुत ही बुरा धक्का दिया। इसी घटना से भारतीय जाति का पतन आरंभ होता है। यहीं से पुरोहित भट्टाचार्यों का प्राधान्य आरम्भ हुआ और पुनः शताब्दियों तक पुनरुत्थान का प्रयत्न भी नहीं किया गया। दिन दिन प्राचीन आदर्शों का पतन वेग के साथ होता गया। जिस समय ईश्वर के ठेकेदार समाज को नष्ट भ्रष्ट करने की ओर शीघ्रता से पग वढ़ा रहे थे उसी समय दो महान् सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने समाज में जीवन डालने का कुछ प्रयत्न

किया। उन्होंने जैन और बौद्ध मत स्थापित किया उन दोनों ने ही किसी दैवी शक्ति के अस्तित्व पर जोर नहीं दिया। दोनों ही के सिद्धान्त बुद्धि से रहित न थे। दोनों ही स्वतः सत्य (Positivists) जैन मत तो आर्यावर्त्त तक ही रह गया किन्तु बौद्धमत प्रचारकों ने अपने संशोधित मत का चारों दिशाओं में प्रचार करते करते उसे ऐशिया का तो प्रधान मत ही बना दिया था। इन प्रचारकों ने प्रचार के साथ ही साथ भारतीय कला-कौशल को यही क्यों हिन्दू सभ्यता को-भूगोल के कौने कौने में पहुंचा दिया था। भारत में पुनः जीवन के स्रोत दौड़ पड़े और चन्द्रगुप्त और अशोक के शासनों ने भारत में अनगिनत उपकार समुन्नति, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतियों का संचार किया। इसी समय जगद्विजयी अलक्षेन्द्र ने भारत पर आक्रमण किया। फिलास्ट्रेट्स ने इस आक्रमण के विषय में इस भांति लिखा है:—

"यदि अलक्षेन्द्र हाईफ़सिज़ पार भी कर पाया होता तो भी वह इन ऋषियों के निवास स्थान पर कदापि अधिकार नहीं कर सकता था। यदि कोई सेना उनसे लड़ाई भी करती तो वे उसे मार भगाने के लिए उस पर ऐसी भयानक गोलियों की वर्षा करते कि मानों आकाश से वर्षा हो रही हो। मिश्र देश के हरक्यूलस और बच्चू दोनों ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और नाना भांति युद्ध विद्याओं को कार्य्य में ला उनके स्थान छीनने का प्रयत्न किया। ऋषि शान्त हो सारी लीला देखते रहे और जब आक्रमण होगया तब ऊपरी भाग से गोलों की ऐसी घोर वर्षा हुई कि

जिसने सारे, आक्रमणकारियों को तहस नहस करना आरम्भ कर दिया।"

पांच सौ वर्षों के पश्चात् बौद्धमत ने पुनः अपने घर (भारतवर्ष) की ही ओर मुंह मोड़ा किन्तु यह जापान, चीन, तिब्बत, मध्य, पश्चिमी और दक्षिणी ऐशिया के चरित्रों पर अपना अमिट चिन्ह छोड़ गया। वैदिक तत्त्वज्ञान के पुनरागमन के साथ ही पुरोहित वर्ग जोर पकड़ता गया। उसके पीछे के हज़ार वर्षों में हिन्दू धर्म का अखाड़ा बनता गया। पुरोहितों ने अपना महत्त्व स्थिर रखने के लिए अपने ऐतिहासिक वीरों को देवकोटि में रखना आरम्भ किया और हिन्दू मत को भिन्न भिन्न देवों का वासस्थान बना दिया। भारत के प्रत्येक मुख्य मुख्य भागों में मंदिरों और शिवालयों पर अपार धन लगा दिया गया। भारत की धन-धान्य-विषयक जन श्रुतियों ने विदेशीय जातियों में इसके नगरों के लूटने की अभिलाषा उत्पन्न करदी। बारहवीं शताब्दी तक में ही मध्य ऐशिया के नवदीक्षित मुसलमान सैनिक उन्नति प्राप्त कर देश के शासक बन बैठे। छः सौ वर्षों तक पठानों और मुगल वंश वालों ने देश पर शासन किया। इन सारी ही शताब्दियों के मध्य राजनैतिक धींगापेलियां सामाजिक और धार्मिक जीवन को छिन्न भिन्न करने में लग रही थीं। पुर्त्तगाल वालों ने सन् १४९२ ई० में भारत का पता पाया। थोड़े ही समय पश्चात् पोर्चुगीज, डच, डेन्स, फ्रेन्च, और अंग्रेज जातियों ने एक एक करके भारत क्षेत्र पर पदार्पण किया। भूस्वाधिकार की प्रबल

उत्कण्ठा तथा इनकी कूटनीतियों ने पठानों के आरंभ किए हुए बारहवीं शताब्दी के लूट कार्य को पूर्णता पर पहुंचा दिया। साम्राज्य का साम्राज्य गिरता गया। क्रान्ति पर क्रान्ति उपस्थित होती गई। सारे प्रायः द्वीप भर में सामाजिक और राजनैतिक धींगापेलियों की भरमार हुई। पठान, मुगल, और अंग्रेज बारी बारी से शासन करते रहे, तिस पर भी आश्चर्य को भी आश्चर्य में डालने वाली बात तो यह है कि, हिन्दू सभ्यता अपने साहित्य और अपने धर्म को रखती हुई अबलों जीवित रही। अनेकों परिवर्तन हुए। धर्म पर बहुत ही बुरी रीति पर आघात पहुंचाए गये, इन्हीं राजनैतिक उथलापुथली की शताब्दियों में बहुत से सुधारक हुए और प्रत्येक ही अपने समय में देवकोटि में पैठ अपना अपना नया ही पंथ चला बैठे। हिन्दू मत पर मुसलमानी मत के रगड़े ने नूतन शक्तियां पैदा करदीं, अंग्रेजों ने शांति स्थापना की है और मातृभूमि शताब्दियों की घोर निद्रा के पश्चात् पुनः जग कर अपने प्राचीन महत्त्व और भविष्य भाग्य के विषय में सावधान हो रही है। उन्नीसवीं शताब्दी ने बहुत से बड़े बड़े सुधारकों को उत्पन्न किया है। भारत के पुनरुत्थान के लिए भिन्न भिन्न धार्मिक और सामाजिक संगठन कार्य कर रहे हैं। किन्तु सब से बड़ा कार्य आर्यसमाज ने किया है, जो एक मात्र वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के लिए कृत प्रयत्न है। एक अमेरिकन सज्जन मि० एण्ड्यूज़ जैक्सन डेविस ने निम्न शब्दों में इसके प्रवर्त्तक के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है:—

"प्राचीन आर्य धर्म को पुनः उसके शुद्ध स्वरूप में ला खड़ा करने की अग्नि आर्यसमाज की भट्टी में थी जो परमात्मा के प्यारे पुत्र दयानन्द सरस्वती के अन्तःकरण में प्रज्वलित हुई थी। वह प्रकाश उसके अन्तःकरण से निकल कर भारत के कई अन्य शुद्धान्तःकरण आत्माओं में पहुंचा। हिन्दुओं और मुसलमानों ने उस महा अग्नि के बुझा देने का प्रयत्न किया जो अपनी अनन्त ज्वालाओं से उस वेग के साथ प्रकाश कर रही थी, जिसका दयानन्द के हृदय में कभी विचार भी नहीं, उत्पन्न हुआ था; और ईसाइयों ने भी, जिनकी पवित्र वेदी की दीपमालिका कुछ कुछ पूर्व में प्रकाश कर रही थी, ऐशिया के उस पवित्र प्रकाश के बुझा देने के प्रयत्न में हिन्दुओं और मुसलमानों का हाथ बँटाया। किन्तु स्वर्गीय अग्नि उनके प्रयत्नों के कारण और भी अधिक बढ़कर फैल गई।"

भारत गजट के अनुसार भारत की सम्पूर्ण जनता में से प्रतिशतक ७० हिन्दू, २१ मुसलमान, ३ बौद्ध, ३ एनीमिस्ट, १ ईसाई और शेष में जैन, पारसी और यहूदी आदि हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि सारे हिन्दू चाहे वे छोटी छोटी अन्यान्य बातों में मतभेद भले ही रखते हों किन्तु वे सब ही वेदों की मुख्य शिक्षाओं में विश्वास रखने वाले हैं। उनके धार्मिक विचार, उनके सामाजिक नियम, और उनका साहित्य सब ही वैदिक साहित्य की शिक्षा से भरे हुये हैं।

विश्व पर वैदिक धर्म का प्रभाव

वैदिक साहित्य

अब मैं वैदिक साहित्य के विषय को लेकर वैदिक धर्म की आधारभूता प्रधान बातों के विषय में लिखूंगा। यह बात पुराने और नये काल के सब ही प्रामाणिक पुरुषों ने एक स्वर से स्वीकार की है, कि मनुष्य जाति के पुस्तकालय में सब से प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। आर्यों के सारे साहित्य की जड़ वेद ही हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रकारों ने अपने भिन्न भिन्न विचारों में वेदों के प्रमाण को ही प्राधान्य दिया है। साधारणतया यह सत्य वार्त्ता असंभव प्रतीत होती है कि सब से प्राचीन प्रयत्नों में ही मनुष्य के विचार अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जावें। हिन्दुओं के मतानुसार वेद ईश्वर वाक्य होने के कारण ये आर्य साहित्य का सब से उच्च स्थान ग्रहण किए हैं। वेद शब्द का अर्थ विद्या है। किन्तु विषय भेद के कारण वेद चार भागों में विभक्त हैं—ऋग, यजु, साम, और अथर्व। ये ही वैदिक तत्त्वज्ञान और वैदिक साहित्य रूपी विशाल भवन की नींव के दृढ़ पत्थर हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ उनके अर्थ प्रकाशक हैं। प्रत्येक वेद के एक या एक से अधिक ब्राह्मण हैं, जिनमें मूल वेद की ऋचाओं के अर्थों का स्पष्टीकरण हुआ है। उपनिषदों में तत्त्वज्ञान अथवा आत्मिकज्ञान पर विचार किया गया है। जिनका आधार या तो मूल वेद की ऋचायें हैं। अन्य पर उनके अर्थों का स्पष्टीकरण। इन तत्त्व ज्ञान सम्बन्धिनी शिक्षाओं के अतिरिक्त वेदों में अन्यान्य विज्ञानों के बीज वर्त्तमान हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना पड़ता है कि वेद

में न केवल तत्त्वज्ञान और ईश्वर ज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें हैं प्रत्युत यह मानना पड़ता है कि कोई पदार्थ ईश्वर ज्ञान कहा ही नहीं जा सकता जो विज्ञान और तत्त्वज्ञान द्वारा प्रतिपादित न हो। इस वैदिक साहित्य की चार शाखायें हैं जो उपवेद कहाती हैं। उनके नाम अर्थवेद धनुर्वेद, आयुर्वेद और गन्धर्व वेद हैं। अर्थ वेद में कला कौशल, इंजिनियरी और रसायन शास्त्र आदि का वर्णन है। आयुर्वेद में सर्जरी (चीड़फाड़) वनस्पति विद्या, अस्थि परीक्षा आदि का वर्णन है। गन्धर्व वेद में चित्रकला, और गान विद्या का और धनुर्वेद में समर विज्ञान, सैनिक नियम और अस्त्र-शस्त्रादिकों के वर्णन हैं। प्राचीन भारत के साहित्य में न केवल इन लाभकारी विद्याओं के नाम ही अङ्कित थे प्रत्युत प्रत्येक विषय के ग्रन्थ विद्यमान थे और उनमें से कई एक अब भी अपने प्राचीन रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। पुनः भिन्न भिन्न शास्त्रों की वारी आती है जिनमें छे मुख्य हैं। वेदाङ्गों में अक्षर ज्ञान, व्याकरण, शब्द रचना, काव्य रचना आदि के वर्णन हैं। समाज सम्बन्धी नियमों (क़ानूनों) का पृथक् ही एक बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। बहुत सी स्मृतियां हैं जिनमें मनुस्मृति सब से प्राचीन है। महाभारत काल में इन सारे ही विषयों पर पुस्तकें विद्यमान थीं और महाभारत ग्रन्थ में जिसे बने हुए ५०१४ वर्ष बीते, हम कितनी ही तद्विषयक उक्तियां पाते हैं।

आर्यों की कर्म जीवन-विषयक चर्चा हम रामायण में जिसमें पचास हज़ार श्लोक हैं, और महाभारत में जिसमें दो लाख श्लोक

हैं, पाते हैं। इन सबों के अतरिक्त नाटक, उपन्यास विषयक बहुतेरे ग्रन्थ हैं। पुनः धार्मिक दन्त कथाओं की अनेक पुस्तकें हैं। उनमें १८ मुख्य हैं। उनमें जगदुत्पत्ति, इतिहास और चरित्र आदि के वर्णन हैं। बहुत से नूतन सम्प्रदायों के धार्मिक विश्वास इन्हीं पुराणों पर हैं किन्तु इस पुराण साहित्य का आधार स्तंभ भी इन्हीं की साक्षियों के अनुसार वेदों की शिक्षाएं ही हैं। हिन्दू मत या भारत वर्ष के धर्म को यथावत् समझने के लिए प्रत्येक को इतने विस्तृत साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना है; इस सारे यन्त्र का पता तब बड़ी सरलता से लग सकता है जब कि हम इस साहित्य के मुख्य सिद्धान्तों का पता पासकें, जिसका मिलना मूल वेदों में ही सम्भव है।

वेदों की शिक्षायें !

वेदों के अनुकूल परमात्मा मुख्य है; वह निराकार है और वह सत्य ज्ञान का स्रोत है। हमारी वर्त्तमान सृष्टि के आदि में भी परमात्मा विद्यमान था और वही अमैथुनी सृष्टिका भी स्वामी है। वह आनन्द सिंधु और कारण है (ऋग्वेद) वह सर्व शक्तिमान है, सर्व व्यापक है। वह अपनी अपार शक्ति के आधार पर ही सारे जगत् को धारण करता है और वह स्वयं एक है। (यजुर्वेद) वह दो, तीन, पांच वा दश नहीं, वह एक है और सारी सृष्टि में, व्यापक है। सारे पदार्थों की स्थिति उसी में है। (अथर्व वेद) वह ज्ञान सिंधु सदा सत्य है। वह आगे, पीछे, दाएं, बांए, ऊपर, नीचे और इसी बृहत सृष्टि के प्रत्येक स्थान में व्याप्त है (मुंडक

उपनिषद्) वहां सूर्य, चन्द्र और तारे प्रकाश नही करते और न उसे बिजली प्रकाशित करती है। उस परमात्मा के प्रकाश से ही ये सारे प्रकाश करते हैं। (मुण्डकोपनिषद्) वास्तव में वह जगत् का आदि कारण है अर्थात् वही इसके भीतर कार्य कर रहा है, वही इसे स्वाधीन रक्खे हुए है। और सारा कार्य उसी के संकेत पर चल रहा है और वही इन सारे पदार्थों का प्रधान है।

वह निर्विकार है। वह ज्ञानपुंज है। इन्द्रियां उसे देख नहीं सकतीं। इसी हेतु योगीजन अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को नियमित कर ध्यानावस्थित हो उसका स्मरण करते हुए उसे सर्व व्यापक देखते हैं। वेदान्त में परमात्मा के स्वभाव का विस्तृत विवरण है।

जीव और प्रकृति विषयक वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट विषय है। जीवात्मा जन्म और मरण से रहित और अदृश्य है। यह दिव्य है। यह कभी बनाया नहीं गया। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही प्रकृति से परे हैं। दोनों व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से स्थित हैं। जीवात्मा कर्मों के फलों का भोगने वाला है। और परमात्मा उसके कर्मों का देखने वाला और साथ ही कर्मों के चक्कर में न आने वाला है।

सृष्ट्युत्पत्ति का विषय वैदिक साहित्य में बड़ी सुन्दरता से कहा गया है। सृष्टि दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों का विस्तृत साम्राज्य है। इसके रचयिता ने सारे ही पदार्थों को अपनी अपार बुद्धिमत्ता द्वारा उनके रूप में पूर्ण रचा है। नित्य पदार्थ तीन

हैं:—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। नित्य पदार्थों के कार्यों की गति तथा उनके स्वभाव और गुण भी नित्य हैं। इन तीनों के संयोग के साथ ही उनके स्वभाव अन्यथा प्रकट होने लगते हैं। और पृथक होने के साथ ही अपने अपने रूप में आ जाते हैं। किन्तु उनकी वह स्वाभाविक शक्ति जिसके द्वारा वे पृथक होते और मिलते रहते हैं, सदैव उनके साथ रहती है। वे अनन्त काल के मध्य पुनः पुनः एकत्र होते और पृथक होते रहते हैं। परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण और प्रकृति उसका उपादान कारण है। ये दोनों ही पृथक पृथक अनादि और अनन्त हैं। किन्तु यह वर्त्तमान जगत् नित्य नहीं है। इसका आदि है और अन्त भी है। जगत् जब से और जबलों अपने वर्त्तमान रूप में बना रहता है, उतने समय को कल्प कहते हैं, और यह हमारे ४३२०००००० वर्ष के बराबर होता है। वर्त्तमान सौर्य्य प्रणाली का प्रादुर्भाव हुये लगभग एक अरब अट्ठानवे करोड़ वर्ष हुये। इस प्रणाली का आरम्भ प्रलय के पश्चात् हुआ जैसी कि प्रत्येक नूतन सृष्टिरचना के पूर्व और पश्चात् की अवस्था होती है, जिसके मध्य प्रकृति एकदम प्रसुप्तावस्था में रहती है। वत्तमान सृष्टि के पूर्व प्रलय काल था और प्रलय काल के पूर्व सृष्टि थी, यही क्रम सदैव रहता है। वर्त्तमान सौर्य्य प्रणाली के अतिरिक्त प्रकृति के गर्भ में और भी बहुत सारी प्रणालियाँ हैं। वैदिकधर्म स्वर्ग और नरक के विचारों को नहीं मानता है। उन्हें वह दशा विशेष समझता है। जिस दशा में आनन्द भोग और उसकी

प्राप्ति के साधनों का निर्विवाद स्वामित्व रहे उसे स्वर्ग और बुरे संग में पड़ घोर यातनाओं के भोग को नरक मानता है। वेदों के प्रकाश में धर्म (Religion) वही है जिसके द्वारा पक्षपात रहितता और न्याय प्रतिपादित हो, सत्य भाषण हो और सदाचार पर ध्यान हो जो तभी संभव है जब हमारे प्राकृतिक और आत्मिक तत्त्वों का पूर्णतया विकाश हो। आचार सुधार के विषय में हमें निम्न भाँति शिक्षा मिलती है:—

पुत्रो ! सदैव सत्य बोलो। सदाचार सम्पन्न जीवन बनाओ। विषयाधिक्य से बचो। पठन पाठन में निरालस्य रहो। अपने को प्राकृतिक और आध्यात्मिक विज्ञान की प्राप्ति की ओर लगाओ, जब तक तुम्हारा ज्ञान परिपक्व न हो ले पुनः तुम अपने गुरु के लिए जिसके तुम ऋणी हो उसके इच्छित पदार्थ को प्राप्त करो। तत्पश्चात् गृहस्थ बन सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो। सत्य मार्ग और अपने कर्त्तव्य पथ से उदासीन कभी न बनो। अपने स्वास्थ्य का सदैव ध्यान रखो। और किसी विद्या और गुण के सीखने में प्रमाद न करो। धन, शक्ति आदि के उपार्जन करने में असावधानी न करो। स्वाध्याय को कभी न छोड़ो। अपने माता पिता गुरु और जगत् हितैषी किसी अन्य महात्मा की सेवा से कभी पराङ्मुख न हो। गुणों से प्यार और दोषों से घृणा करो। हमारे गुणों का ग्रहण और दुर्गुणों का त्याग करो। सदैव ऐसे बुद्धिमान् लोगों के सत्संग में रहो जो परमात्मा के भक्त हैं। उन्हीं पर विश्वास लाओ। दानशील बनो, और विश्वास पूर्वक दान करो। यदि

तुम्हें किसी धार्मिक सिद्धान्त के विषय में सन्देह हो तो तुम उन धर्मशील लोगों का प्रमाण मानो जो पक्षपात रहित, दानशील और तत्त्वज्ञान तथा विज्ञान के पंडित हैं और जो धर्म कार्य को उन्नत करने में सचेष्ट रहते हैं। "तैत्तिरीयोपनिषद"

ये आरम्भिक शिक्षायें आजलों यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर बालकों को दी जाती हैं। हिन्दू मत भर में भी किसी निश्चय विशेष अथवा विश्वास विशेष पर जोर नहीं दिया गया है। वैदिक तत्त्वज्ञान में उस विश्वास का कोई अर्थ ही नहीं जो विज्ञान और अकाट्य सत्य के विरुद्ध हो। हिन्दू मत या वैदिक धर्म सदाचार को प्रमाण मानता है। तीन नित्य पदार्थों को सत्, चित्, और आनन्द कहते हैं। इन में प्रकृति में केवल एक यही गुण है कि वह सत् है अर्थात् उसकी सत्ता है, और वह किसी न किसी रूप में रहती है। जीव में सत् और चित् अर्थात् सत्ता और चेतनता दो गुण हैं और परमात्मा में सत् चित् और आनन्द तीनों गुण वर्त्तमान हैं। जीव का ज्ञान परिमित है, किन्तु सच्चिदानन्द में तीनों गुण पूर्ण रूप से वर्त्तमान हैं। वह नित्य और निराकार है। वह सब ज्ञानों का प्रकाशक और सारे गुणों की खान है। हम लोग मनुष्य जाति की इतनी बड़ी बड़ी आश्चर्य्य पूर्ण शक्तियों के रखते हुए भी प्रकृति और परमात्मा के मध्य ही अवस्थित हैं। हम में एक आश्चर्य्य पूर्ण मंत्रवत् ढांचा है, जो प्राकृतिक और अप्राकृतिक विशेषताओं से पूर्ण है। उसी के साथ हम परिवर्त्तन शील घेरे के चारों ओर चक्कर

मार रहे हैं। और उसी के द्वारा हम अपने लक्ष्य मार्ग में वाधक और सहायक बातों के मध्य अन्तर जान सकते हैं। जैसा उपनिषद् वाक्य है कि "जैसे मनुष्य के हृदय में विचार होते हैं वैसा ही वह बन जाता है।" हम अपने भाग्य के स्वयं स्वामी हैं। हम जिन कर्त्तव्यों को मानते हैं और जो किन्हीं चरित्र सम्बन्धी शिक्षाओं में विश्वास रखते हैं। वह इसलिए नहीं कि वे ईश्वर अथवा किसी मत विशेष की आज्ञायें हैं, किन्तु इसलिए कि ये हमें उन्नत करने वाले हैं। यह बात ही "पुनर्जन्म" के मर्म को सिद्ध करने वाली है। प्रत्येक जन अपने कार्यों का उत्तरदाता है, एक मनुष्य उत्तम है जो अच्छे कर्म करता है, फिर चाहे वह जिस मत का हो, और चाहे जिस देश में पैदा हुआ हो। कोई पुरुष, जो सदाचार सम्पन्न जीवन व्यतीत करता है, भला आदमी है, चाहे वह वेदों को मानता है या नहीं। इमर्सन, न्यूटन, डार्विन, और शोपनहार और अन्य मनुष्य जाति को लाभ पहुंचाने वाले पुरुष चाहे उनके सिद्धान्त कुछ ही हैं वे हिन्दू शास्त्रानुसार, अपनी मनुष्य जाति की निःस्वार्थ सेवा के कारण, महानुभाव हैं। वेदों का परमात्मा पक्षपाती नहीं है। वह आस्तिक और नास्तिक सभी के साथ न्यायकारी है। वह ज्ञान का भण्डार है, अतः उसके नियम अमिट और अपरिवर्त्तन शील हैं, उसके नियमों का उलंघन करते ही आपको उसका परिणाम भी अवश्य भुगतना पड़ेगा। कोई शक्ति, कोई रसूल या नवी और कोई भी मत तुम्हें तुम्हारे कर्मों से मुक्ति प्रदान नहीं कर सकते। पुरस्कार

और दंड, उन्नति और अवनति ये सभी शब्द पुनर्जन्म के सिद्धांत के पोषक हैं। वैदिक मत के रीति रिवाज व्यक्तियों के प्रकाश्य और गुप्त गुणों को प्रकट करने वाले हैं। उसका एक और उद्देश्य प्रेम, सेवा और आत्म समर्पण के साम्राज्य का भी स्थापन करना है। इन्हीं चरित्र सम्बन्धी शक्तियों को दृष्टि में रखते हुये हम प्राप्त अवसर का सदुव्यवहार करते हैं और अपनी शक्तियों को पहिचानने लगते हैं, इस भांति वैदिकधर्म अपनी निर्बलता को स्वीकार करके मनुष्य जाति को अपने प्रश्नों के हल करने के लिए निस्सहायता की स्वीकृति का उपदेश करने वाला नहीं वरन् यह विश्वास परक पुरुषत्व और स्त्रीत्व का सन्देशा लाता है ऐसा संदेशा जो ईश्वरीय गुणों से पूरित, प्रकाश और स्वतन्त्रता से प्रतिपादित है। किन्तु हिन्दुओं के वर्त्तमान् धर्म की अवस्था क्या है? वास्तव में सारे भारतवासी इन विचार पूर्ण बातों में शिक्षित नहीं हैं, वे अपनी अपनी सामाजिक त्रुटियों में फंसे हुए हैं। वे मूर्त्तियों की पूजा करते हैं, वे धार्मिक अस्वाभाविक और मिथ्या विश्वास पूर्ण घटनाओं पर विश्वास रखते हैं, उनका जाति बन्धन बहुत ही घृणित रूप में है। पांच करोड़ के लगभग लोग उनमें नीच और अछूत समझे जाते हैं, स्त्रियों को समानाधिकार प्राप्त नहीं हैं। अपढ़ और साधारण जनता पुरोहितों के मजबूत फन्दे में फंसी हुई है। इतने अधिक वंश जाति और उपजाति हैं कि जिनके कारण भारतवर्ष एक धार्मिक विचित्रालय (अजायबघर) बन रहा है। किन्तु यह अंधकार पूर्ण

और शोकमय चित्र सब वर्गों के लोगों के लिए एकसा ही लागू नहीं है। बुद्धि परक और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी बातों के मानने वाले तथा निर्मूल मिथ्या विश्वास वाले दोनों प्रकार के लोग साथ ही साथ निवास करते हैं। देश में अपढ़ लोगों की संख्या बहुत ही अधिक है। भारत में सर्वप्रिय शिक्षा का कोई भी नियम वर्त्तमान नहीं है। जनता स्वतन्त्र शिक्षा पाने से वंचित है और उसी के परिणाम स्वरूप स्वार्थी पुरोहितों का शिकार बन रही है। भारतवर्ष में बहुत सी सामाजिक और धार्मिक संस्थायें वर्त्तमान हैं, यही इस बात का पक्का प्रमाण है कि, वहां धार्मिक मिथ्या विश्वास और सामाजिक त्रुटियां विद्यमान हैं। किन्तु यह भी बात स्मरणीय है कि उन त्रुटियों के सुधारने का प्रयत्न हो रहा है। विरोध भाव ऐक्य भाव में परिवर्त्तित हो रहे हैं, और कठिनाइयां दूर की जा रही हैं। त्रुटियां और मिथ्या विश्वास उन्मूलित हो रहे हैं, और यह निश्चय है कि वे शीघ्र ही या देर में सर्वथा ही लुप्त हो जावेंगे, और शिक्षा विस्तार के साथ ही उनके स्थानों पर विचार और उन्नति परक आदर्शों का समावेश होता जावेगा। इस अवस्था में भी लाखों आखें नई रोशनी से प्रकाशित हो रही हैं, क्योंकि जातीयता की लहरें चारों ओर से धक्के लगाती हुई उस विस्तृत देश की जनता पर अपना प्रभाव डाल रही हैं। कई प्रकार की असुविधाओं की उपस्थिति में भी वैदिक साहित्य सदैव ही लोगों के जीवन पर अपना दृढ़ प्रभाव डालता रहा है। जो पश्चिमीय लोगों के लिए आश्चर्य्य

और प्रशंसा का विषय रहा है। सर टामस मुनरो ने लिखा था:--
"किन्तु यदि कृषि विद्या सम्बन्धी अच्छी प्रणालियाँ, अनुपम दक्षता, सुख या सुविधा परक पदार्थों के उत्पन्न करने की योग्यता, प्रत्येक ग्राम में लिखना पढ़ना और गणित सीखने के लिए पाठशालाओं का होना एक दूसरे के प्रति आतिथ्य और सब से बढ़ कर स्त्रियों में पूर्ण विश्वास, प्रतिष्ठा और नम्रभाव, ये सारी बातें किसी जाति की सभ्यता के चिन्ह हैं, तो मैं कहूँगा कि हिन्दू लोग योरुप की अन्यान्य जातियों से कदापि कम नहीं हैं।"

उपर्युक्त चित्र एक अँग्रेज़ राजनीतिज्ञ द्वारा पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व खींचा गया था। किन्तु तब से अब तक आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हो गया है। उस काल के लोगों में प्रचलित बहुत से सामाजिक दोष अब लुप्त प्रायः हो गये हैं। भारत के नर-नारी पाश्चात्य विद्याओं में पाश्चात्यों के समकक्ष हो जाने और अपने धर्म, तत्त्वज्ञान और साहित्य सम्बन्धी अमूल्य कोषों को जो उन्हें उनके पुरुषाओं द्वारा प्राप्त हुए हैं, रक्षा पूर्वक रख छोड़ने के लिए दृढ़ प्रयत्न में लग रहे हैं। वैदिक-धर्म सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता के भावों को सम्मुख रखता है, वैदिक-धर्म और उसकी शाखा बौद्ध धर्म, दोनों अस्सी करोड़ से अधिक लोगों के हृदय क्षेत्र में स्थान रखते हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी कभी धार्मिक विचारों के लिए एक बूँद भी रक्त बहाने का आदेश नहीं किया।

वैदिक-धर्म के दावे

योरोप सदैव से ही अपनी आत्मिक महत्त्वाकाँक्षा के लिए

भारत का ऋणी रहा है। ईसाई धर्म में बहुत ही कम उच्च विचारों और महत्त्वाकांक्षाओं का समावेश है,जो किसी भी प्रकार से हिन्दू भावों से टक्कर नहीं ले सकते। जो न तो पिथागोरस और प्लेटो के ग्रीक हिन्दुत्व से, नाहीं नोस्टिस के मजीड़िज़म हिन्दुत्व से और नहीं मूरिश तत्त्वज्ञानियों के मुसलमानी हिन्दुत्व से ही टक्कर ले सकती है, फिर नवीन इंगलेंड के बहुत सारे पूर्वीय प्रभावों की तो बात ही क्या, जो ईसाई धर्म की मिट्टी को उपजाऊ बना रहे हैं। (कोलब्रुक)

वैदिक-धर्म ईश्वर सम्बन्धी विद्या का ही प्रतिपादक नहीं, किन्तु मानवजाति की सारी व्यवस्थाओं का स्रोत है, इस व्यवस्था में विज्ञान और तत्त्वज्ञान का स्वतन्त्रता के साथ पूर्णरूप से वर्णन मिलता है। धर्म (मजहब) का सम्बन्ध तत्त्वज्ञान के साथ जितना निकट वैदिक साहित्य में है उतना किसी अन्य धर्म की व्यवस्था के साथ नहीं है।

आप सभी इस बात से पूर्णतया परिचित हैं कि पश्चिमीय तत्त्वज्ञान के व्यवस्थापक कैन्ट, स्फिनोज़ा मिल, बर्कले हीगल, स्पेन्सर और हेमिलटन आदि ही हैं। इन सारे के सारे तत्त्वज्ञानियों ने यूनान के महत्त्वपूर्ण तत्त्वज्ञान सागर में डुबकी लगाई थी। प्लेटो, अरस्तू, और जेनोही उनके मार्ग प्रदर्शक हुए हैं। उन यूनानी तत्त्वज्ञानियों की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति सीधे हिन्दुओं द्वारा अथवा फारस के तत्त्वज्ञानियों द्वारा हुई थी। इतिहास लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि पिथागोरस अनेक्ज़ारस,

और पिरहे सरीखे प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञानप्राप्ति के लिए भारत की यात्रा की थी। थेलएक्सीमेन और अन्य भी भारतीय तत्त्वज्ञानियों द्वारा ही भारतीय तत्त्वज्ञान का मर्म जान पाये थे; उनके तत्त्वज्ञान सम्बन्धी आविष्कारों पर हिन्दू विचारों का अमिट चिन्ह विद्यमान है। प्रोफ़ेसर श्लीगल का विश्वास था:—

"योरोपियों का सब से उच्च तत्त्वज्ञान भी जो यूनानी तत्त्वज्ञानियों द्वारा ज्ञान का आदर्श समझा जाता है, पूर्वीय आदर्श के महान् प्रकाश के सम्मुख तारागणों के मध्य स्थित एक चमकदार अस्थिर लूक की नाईं है, जिसका प्रकाश बहुत ही धुँधला और शीघ्र ही छिप जानेवाला है।

मानवजाति की आध्यात्मिक उन्नति के इतिहास में भारतीय तत्त्वज्ञान का बहुतही स्पष्ट स्थान है और उपनिषदों में सारे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी गहन विषयों के मूल विराजमान हैं। दिन प्रतिदिन पश्चिमीय मस्तिष्क इन अमूल्य भण्डारों की ओर झुक रहे हैं। फसल बहुतायत से तैयार खड़ी है। किन्तु अद्यावधि उसके संग्रह करने वाले बहुत ही थोड़े हुए हैं। प्रोफ़ेसर सोपनहार ने निम्नाङ्कित शब्दों द्वारा पश्चिमीय तत्त्वज्ञानियों के लिए मार्ग प्रदर्शन किया है:—

"अहा! किस भाँति पूर्णरूप से यहूदियों के मिथ्या विश्वासों और उसके पूर्व के सारे मिथ्या विश्वासों की ओर से मेरा मस्तिष्क शुद्ध कर दिया गया है। सारे विश्व में मूल उपनिषदों की नाईं कोई भी अन्य स्वाध्याय उन्नत और लाभदायक नहीं

है। यह मेरे जीवन में धैर्य्य स्थापन करने वाला आपत्संगी रहा है, और यही मेरी मृत्यु के समय शान्तिदायक होगा।"

अबलों पाश्चात्य लोग वेदान्त और योग सम्बन्धी तत्त्वज्ञान का कुछ थोड़ा ही प्रकाश देख सके हैं। भगवद्गीता पुस्तक इन व्यवस्थाओं का एक प्रदर्शक है। यह संस्कृत साहित्य में एक बहुत ही सुन्दर रचना समझी जाकर यूरोप की लगभग सारी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। किन्तु अभी तो और भी असंख्य लाभों से परिपूर्ण भण्डार है जो अबलों प्रकट ही नहीं हुआ है और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी उन विचारों का ठीक-ठीक प्रकटीकरण होते ही पश्चिमीय तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विचारों में एकदम क्रान्ति उपस्थित कर देगा।

प्रकृति विज्ञान मानवजाति के प्रकाश और उसकी वृद्धि में एक बहुत बड़ा और विचार पूर्ण भाग रखता है। वैदिक साहित्य में हमें सभी वैज्ञानिक ज्ञान की शाखाएँ मिलती हैं। उसमें आप को आयुर्वैदिक विज्ञान बहुत ही विस्तृत रूप में उपलब्ध होगा। आप को तदन्तर्गत गान विद्या, नक्षत्र विद्या, सैनिक विज्ञान आदि और भी बहुत सी खोज सम्बन्धी बातें मिलेंगी। लीलावती नामक एक ग्रन्थ है जिसे एक गणितशास्त्र निपुण महिला ने लिखा था। इसमें व्याज, बदला, मिश्रण, चक्रवृद्धि, प्रश्न सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। अब तो वैज्ञानिकों को भी यह विश्वास हो गया है कि आयुर्वैदिक विज्ञान के आविष्कर्त्ता हिन्दू ही थे, और यह कि, उन्होंने ही उसका प्रचार यूनान, और बगदाद में किया

और हार्वे और जेनर कथित आविष्कारों को वे उनसे भी पूर्व आविष्कृत कर चुके थे। सर विलियमहंटर ने स्वीकार किया है:—

"भारतीय आयुर्वेद में तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण वैज्ञानिक विषयों का वर्णन है, इसमें शरीर के अस्थिपंजर, अंगों, नसों और नाड़ियों आदि सभी का वर्णन है। हिन्दुओं की चिकित्सा में बहुत से प्राणियों, खनिज पदार्थों, और वनस्पतियों से सम्बन्ध रखने वाले नशाओं (Drugs) का वर्णन है। जिनमें से अधिकांश का उपयोग अब योरोपियन डाक्टर लोग भी करने लगे हैं।"

"यद्यपि मुझे क्रमबद्ध इतिहास स्मरण नहीं है, तथापि मैं कहूँगा कि वास्तव में हिन्दू लोग स्पिनोज़ा (एक उच्च फिलास्फ़र जो परमात्मा के परे प्रकृति को कुछ नहीं मानता था) से दो सहस्र वर्षों पूर्व ही स्पिनोजी थे, डार्विन से कई शताब्दी पूर्व डार्विनियन थे और विकासवादी तो उस समय से कई शताब्दी पूर्व से ही थे; जिस समय कि हमारे वैज्ञानिकों ने विकासवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया, अथवा जिस समय विश्व की किसी भी भाषा के कोष में विकास शब्द भी न था" (सरमोनियर विलियम्स की हिन्दु इज़्म और ब्राह्म निज़्म पृष्ठ १२)

"भारतीय प्राचीन ऋषियों के विषय में तो कहना ही क्या रहा, जिनके लिए टार्सस पालके जन्म काल से शताब्दियों पूर्व ही से विकासवाद एक पूर्ण रूप से परिचित विषय था।"

नक्षत्र विद्या तो हिन्दू धर्म के साथ अतीतकाल से जुड़ रही है। अन्य विज्ञानों की नाईं इस विज्ञान ने भी मानवजाति के विकास में प्रधान भाग लिया है, आर्य्यावर्तीय हिन्दुओं का दावा है कि उन्होंने इस पृथिवी की आयु को अभंग रूप में बना रक्खा है। अवश्य ही यह बात आश्चर्यजनक तथा संशय पूर्ण समझी जाती है, किन्तु बात तो सच यह है कि हिन्दुओं का एक सङ्कल्प मंत्र है, जिसमें प्रति वर्ष जोड़ते चले जाते हैं; उनकी गणना के अनुसार वर्त्तमान सृष्टि की अवस्था १,८६,१८७,००० वर्ष है और इसी को सृष्टि संवत् कहते हैं। इसके अतिरिक्त आर्यों की सभ्यता में कहीं कहीं उसकी प्राचीनता की द्योतक बातें भरी पड़ी हैं। किसी वैक्ट्रियन द्वारा लिखित डबिस्तन ग्रन्थ में राजाओं की एक क्रमबद्ध सूची मिलती है, जिसका पहला राजा वैक्ट्रिया में अलचेन्द्र के भारत आक्रमण से ५६०० वर्ष पूर्व राज्य करता था और इस तरह उसे अब ७८३८ वर्ष होते हैं। मेगास्थनीज के पास एक सूची १५३ राजाओं की थी जिसमें प्रत्येक के राज्य-काल की अवधि भी लिखी थी, उसके अनुसार डिग्रोनीशस नामी राजा भारत में ईसा से ७ सहस्र वर्ष पूर्व राज्य करता था जिसे अब लगभग ८ सहस्र वर्ष हुये। स्मरणीय युद्ध-कथानक रामायण की तिथि करीब १०००० वर्ष के हुई, मिश्र देश में हिन्दू लोग पहिले ही पहल अब से कोई १८००० वर्ष पूर्व गये थे। बहुत से ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार महाभारत का समय अब से ५०१३ वर्ष का ठहरता है। सूर्य सिद्धान्त और

अन्यान्य ज्योतिष के माननीय ग्रन्थ इन्हीं कालों में लिखे गये। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने मान लिया है कि ईसा से २७८० वर्ष पूर्व भारत में नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) के ग्रन्थ विद्यमान थे। न्यूटन ने जिस समय पृथिवी की आकर्षण शक्ति का पता लगाया उससे बहुत काल पूर्व ही भारत के ऋषियों ने उसकी व्याख्या कर रक्खी थी, आर्य भट्ट ने पृथ्वी सम्बन्धी सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन कभी का कर दिया था जिसके वर्णन कर देने के कारण गैलिलियों और कोपरनिकस सताये गए थे। उन्होंने (आर्य भट्ट) लिखा है:—

"तारा मण्डल स्थिर है और पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमा करती है। और इसी लिए अन्य ग्रह और तारे चलते हुए प्रतीत होते हैं।" पुनः "जिस भाँति एक चलती हुई नौका पर सवार पुरुष पास के अचल पदार्थों को चलता हुआ देखता है उसी प्रकार पृथ्वी की गति के कारण ही तारागण अचल होते हुए भी चलते हुये देख पड़ते हैं।"

सभ्यता का अस्तित्व दृढ़ सुसङ्गठित समाज पर निर्भर है, प्राचीनकाल से सामाजिक, नैतिक और घरेलू कानूनों का वर्णन प्रसिद्ध ऋषि-मनु की स्मृति में है। मिश्र निवासियों में यह स्मृति मेंस के नाम से प्रसिद्ध थी और हज़रत मूसा की सामाजिक और नैतिक शिक्षायें मिश्र और बैबीलोनियाँ की शिक्षाओं के आधार पर हैं और यह दोनों देश भारत के ऋणी हैं। जस्टीनियन क़ानून जिसने योरोपियन सभ्यता का दो सहस्र वर्ष लों

स्वतन्त्र शासन किया है वह मनु कथित क़ानून से बहुत कुछ समता रखता है। नार्स के प्रगाज्ञ के आधार हिन्दुओं की स्मृतियां हैं। इन क़ानून की पुस्तकों में परस्पर यहाँ तक समता है कि स्मृतियों के अनुवाद में उनकी सारी बातें आजाती हैं। इन दोनों स्मृतियों ने क़ानून विज्ञान के आधार भूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है और यहाँ और अन्यत्र भी भारत ने ही सभ्यता के लिए सामान उपस्थित किया है। समाज को अत्युच्च बनाने और उसे जीवित रखने के लिए समाज के लोगों को चार भागों में विभक्त करने का आवश्यकीय विचार प्रथम ही वेदों में वर्णित हुआ है और मनुजी ने इसका विस्तार किया है। यह बात सभी प्राचीन जातियों ने एक स्वर से स्वीकार की है। आप जावें और अध्ययन करें तो पता लगेगा कि समाज के इन चार विभागों, जिनसे पश्चात् की बहुत सी जातियाँ और उपजातियाँ बन गईं, का ही अनुकरण स्कैण्डीनेविया, मिश्र, बैबीलोनियां यूनान, और रोम वालों ने किया था। तथा उन सारी जातियों ने ही उस सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में मान रक्खा था, यह बात रहस्य शून्य नहीं है।

यहाँ तक तो मैंने बाह्य साक्षियों से ही काय लिया है और अब मैं धार्मिक जगत् में उनके प्रत्यक्ष प्रभावों से कार्य लूँगा। एक बार आप यह मान लें कि पृथ्वी पर सब से प्राचीन सभ्यता वैदिक सभ्यता है फिर तो आपको यह मानना ही पड़ेगा कि सारे धार्मिक जगत् में एक भी विचार, एक भी सत्य वार्ता और

एक भी ऐसी भाषा नहीं है जिसका उद्‌गम कोई अन्य व्यवस्था हो। किसी एक स्थान से पृथक्-पृथक् दिशाओं को जाती हुई गाड़ियों के चक्र चिन्हों के अन्तर की नाईं हम देखते हैं कि संसार में भिन्न धर्म हैं सही, किन्तु वे प्रत्येक स्वतः स्वतन्त्र उत्पत्ति नहीं रखते। संसार के सारे धर्मों की उत्पत्ति भारत के धर्म के ही आधार पर हुई है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि मूल वेदों में अलङ्कार पूर्ण उपदेशों का अनेक अंशों में अन्यथा अर्थ समझा गया है। दुर्भाग्य से इनमें अनेक व्यवस्थायें इस समय प्रकाशित हुईं जिस समय भारत में बहुत से ईश्वर प्रतिनिधि बनने वालों का प्राधान्य था। भारत में पुरोहितों ने अपने स्वार्थ और आडम्बर पूर्ण उद्देश्यों की सिद्धि को लक्ष्य में रख अपने अनुयायियों को पूर्ण रूप से अज्ञानान्धकार में रख छोड़ा और लोगों पर नाना भाँति के मिथ्या और भ्रम पूर्ण विश्वासों का भार लाद दिया। यह दशा निरन्तर अन्य धर्म वालों की रही। इन धार्मिक दन्तकथाओं ने यद्यपि इनमें जगत् की असंख्य सचाइयों के रत्न भरे पड़े हैं। धर्म के सच्चे भावों का अन्धकार में खून कर डाला है। भारत में इन धार्मिक गाथाओं की रचना अधिकांश में बौद्धकाल में हुई। जगत् की सारी सभ्य जातियों के साथ हिन्दुओं का सदैव हाथ रहा है। मिश्र में पदार्पण करने के समय से लेकर मसीह के समय तक हिन्दू व्यापारी लोग उन देशों के साथ व्यापार करते रहे हैं।

"हमें विश्वस्त मार्ग से पता चला है कि रोम वाले प्रति वर्ष

व्याज पर लिए हुए रुपयों को चुकाने के लिए भारतवर्ष को ३० करोड़ के लगभग धन भेजा करते थे। और पलोलिमीज़ के शासन काल में भारत के एकसौ पचीस जहाज़ उन बंदरगाहों में तैय्यार थे जहाँ से मिश्र, सीरिया, और स्वयं रोम वालों को भारत में उत्पन्न हुये माल भेजे जाते थे।" (टाड रचित वेस्टर्न इण्डिया पृ० २२१)

मिश्र देशीय व्यवस्था तत्कालीन हिन्दू धर्म के विचारों से सदैव पोषित थी, जिन आर्यों ने नील नदी के तटों पर अपने उपनिवेष बसाये थे वे संभवतः पंजाब के पश्चिमीय भाग से गये थे। उन्होंने पहिले ऐथियोपिया में निवास किया। मिश्र देश की हर्मीज़ की पवित्र पुस्तकों में हर्मीज और टोथ या बोध के मध्य वार्त्तालाप का वर्णन है। उसमें, आत्मा की पूर्व स्थिति, पुनरागमन और इसके दैवी होने पर बातचीत हुई है। फिलास्ट्रटस में एक मिश्र निवासी का वर्णन मिलता है जिसने अपने पिता से यह सुना था कि भारतीय लोग मानव जाति में सब से अधिक बुद्धिमान थे और यह कि एथियोपिया (भारत का एक उपनिवेश) वालों ने अपने पुरुषाओं की योग्यता और उनकी रीति-नीत को स्थिर रक्खा था, और वे अपनी प्राचीन जन्म भूमि (भारत) पर अभिमान रखते थे। इस भाँति हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं कि उक्त पवित्र पुस्तकों में कथित मनुष्य श्रेष्ठ व्यक्ति भारतवर्ष के ऋषियों से भिन्न कोई अन्य पुरुष नहीं थे। डाक्टर प्रिंसेप मानते हैं:—

विश्व पर वैदिक धर्म का प्रभाव

"पश्चिमीय ऐशिया के बौद्धों ने ईसाई मत ग्रहण करते ही गिरजों में उन रीति, नीतियों का प्रवेश कर दिया जो शताब्दियों तक भारत में प्रचलित थीं, उसी देश से ईसाईमत ने गिर्जों में पूजा करने की शिक्षा ली। उसी देश से धार्मिक मतभेद के झगड़ों को एक महती सभा द्वारा दूर करना, मृतक पुरुषों की पूजा करना, और उनके द्वारा आश्चर्योत्पादक घटना सिद्ध करना सीखा।"

मसीह की अवलों उस अप्रकट जीवनी के अनुसार यदि वह ऐतिहासिक घटना के रूप में मान ली जा सके। जो हिमिज् के मठ में निकोलस नोटोविच द्वारा प्राप्त की गई है, ईसाईमत प्रवर्त्तक ईसा मसीह ने अपने जीवन के चौदह वर्ष भारत में विताए थे। उसने साठ वर्ष जगन्नाथ, राजगृह और बनारस में विताए थे। मसीह द्वारा उपदेश की हुई नैतिक शिक्षायें वेदों की बहुत सी शिक्षाओं से मिलती जुलती हैं। वर्त्तमान ईसाई धर्म भी अन्यान्य व्यवस्थाओं की नाईं एक ही मूल स्थान से निकला है और उसने पश्चात् को यहूदी, वैबीलोनियाँ और मिश्र के स्रोतों से बहुत सी बातें ग्रहण करलीं।

डीन मैंसिल स्वीकार करता है कि अलेक्जेंड्रिया का तत्त्व-ज्ञान और वहाँ की बहुत सी रीति नीतियाँ उन बौद्धमत प्रचारकों से ग्रहण की गई थीं जिन्होंने अलेक्जेंडर से दो पीढ़ी पूर्व यूरोप की यात्रायें की थीं। अशोक सम्राट् द्वारा प्रचारित आज्ञापत्र (जो पत्थरों के स्तम्भों पर अङ्कित हैं) स्पष्ट रूप से यूनान;

ऐशिया माइनर और मिश्र की अनेक रियासतों में बौद्धमत के प्रभाव कथन करते हैं।

इंजील के पुराने और नये अहदनामों को यथार्थ रूप से समझने के लिए यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि बैबीलोन, नीनीवाह फोनीसिया और ईरान के इतिहासों का अनुशीलन करें। इनकी प्राचीन सभ्यताओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको पुनः भारत की ओर आना पड़ेगा जो इतिहास के आरंभ काल के धुंधले समय में सदैव अपने विचार प्रवाहों को इन देशों की ओर भेजता रहा है। धार्मिक अगम्य मैदानों में वेद और जेन्द दो सुन्दर नदियाँ हैं जिनका मूल स्थान एक ही है। वेद नदी जन्द की अपेक्षा पूर्ण और शुद्ध है और अबलों अपने मूल भाग में उसी प्रकार सत्य पूर्ण है, किन्तु जेन्द की धारा जो वेद नदी से ही निकली थी अनेक अंशों में दूषित करदी गई है और युग युगान्तरों की मिथ्या कहानियों के अगम्य पथ का अनुसरण करती हुई इस प्रकार दूषित होगई है कि इसके निकास का भी बड़ी कठिनाइयों से पता चलता है। एकसौ वर्ष पूर्व अबीडुबोइस ने निम्न भांति लिखा है:—

"भारतवर्ष जगत् की जन्म भूमि है। वहीं से सबों की माता ने अपने बच्चों को सब से अधिक पश्चिम की दूरी तक भेजते हुए भी हमें भाषा, अपने कानून, सदाचार, साहित्य और धर्म का उत्तराधिकारी बना रक्खा है। मनु में हिब्रू; मिश्र, यूनान

और रोम के कानून रचयिताओं में जीवन डाल दिया था, और उसके भाव हमारे यूरोपियन कानूनों में व्याप्त हैं।"

महिलाओ और सज्जनो! मैंने पाश्चात्य लेखकों के आधार पर ही कथन किया है कि पश्चिमी लोगों द्वारा कथित हिन्दुओं का वैदिकधर्म सदैव अपना प्रभाव पश्चिमीय विचारों पर डालता रहा है। भारतवर्ष, जो सब धर्मों की माता, वेदों की जन्म भूमि, बौद्धमत का घर और विज्ञान तत्त्वज्ञान का स्रोत है और जो मिश्र स्कैंडिनेविया वैबीलोनियाँ फारस, यूनान और रोम की सभ्यताओं का मूल स्थान है, सदैव मानवजाति की आध्यात्मिक उन्नति को उन्नति देता रहा है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने बहुत ही ठीक कहा है:—

"मानव जाति के मस्तिष्क सम्बन्धी चाहे जो विषय अध्ययन के लिए जावें, चाहे भाषा, धर्म, धर्म गाथायें अथवा तत्त्वज्ञान और चाहे कानून, रीति नीति प्राचीन विज्ञान, इन सभी के विषय में ही हमें भारत वर्ष की ओर जाना पड़ेगा क्योंकि मानव जाति के इतिहास की कुछ अत्यन्त मूल्यवान और शिक्षा पूर्ण सामग्रियां वहीं, हां केवल वहीं, एकत्रित पाई जाती हैं।"

पश्चिमीय विचार यूनान और रोम के इतिहासों, और धार्मिक गाथाओं मिश्र और वैबीलोनियां के धर्म तथा फारस और यहूदियों की धार्मिक गाथाओं द्वारा ही बने हैं। वे अपने आध्यात्मिक आर्यों के भारत वर्ष को जो सब सभ्यताओं का मूलस्थान, सब धर्मों का पिता और सब तत्त्वज्ञानों को उत्पन्न

करने वाला है, अपनी दृष्टि से दूर रक्खे हैं। विशेष कर पाश्चात्य लोगों के मस्तिष्कों को उनके उन विचारों ने विषैला बना दिया है कि हिन्दू उनसे भिन्न हैं, उनसे सच्चरित्रता, स्वभाव और रंग-रूप में बुरे हैं, और इसीलिए विकास पक्ष में भी बहुत ही पीछे हैं। ये विचार गलत (भ्रमपूर्ण) हैं और वास्तव में ये ही विचार परस्पर के वास्तविक सम्मिलन में बाधक रहे हैं। पाश्चात्य विद्या-खोजी लोग बेबीलोनिया के नगरों की ही धूल छानने में संलग्न हैं, किन्तु उन्होंने उस संस्कृत विद्या के अध्ययन की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है जिसमें अब भी अमूल्य भण्डार भरे पड़े हैं। ऐसा क्यों ? यदि आप चरित्र-विज्ञान और मस्तिष्क-विज्ञान के प्रेमी हैं तो भारतवर्ष में जावें। उसने सावधानी के साथ वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों को सुरक्षित रख छोड़ा है। यदि आप धार्मिक, गाथाओं के प्रेमी हैं, तो वहां पर उस प्रकार की भारी सामग्री वहां के पुराणों में अंकित है, जिन्हें धार्मिक-गाथाओं का विश्व-कोष (इनसाइक्लोपीडिया) कह सकते हैं। यही क्यों, यदि आप धर्म की शिक्षा चाहते हैं तो भारतवर्ष में जाओ, और वैदिक साहित्य का अनुशीलन करो। यह धार्मिक और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विषयों से पूर्ण है। उसका क्रम और विस्तार इतना अधिक है कि उसे कितने ही निःस्वार्थ और प्रेमी आत्माओं की आवश्यकता है जो उन छिपे हुए किन्तु अमूल्य भंडारों को पूर्ण प्रकाश में ला उपस्थित करें। उसकी थोड़ी ही किरणों ने, जो अब भी थियासोफ़ी के कुछ लेखों और भारत के

थोड़े से विद्वान पुत्रों द्वारा प्रकट हुई हैं। पाश्चात्य मस्तिष्कों में अपने उत्तम प्रभाव उत्पन्न कर रखे हैं। अतः भारतवर्ष धर्म और तत्त्वज्ञान की सारी सामग्री अपनी वैदिक व्यवस्था में रखता है, अतः शीघ्र ही या देर में पाश्चात्य विद्या-खोजियों के ध्यान उस ओर को अवश्यमेव आकर्षित होंगे। इन चिरस्मरणीय भण्डारों को किसी जीवित शक्ति की प्रतीक्षा है जो इन्हें ठीक ठीक रीति से एकत्र करें। मेरा अपना यह दृढ़ विश्वास है कि जिस समय भारत के इन गुप्त भण्डारों के ठीक ठीक अनुवाद हो जावेंगे, जिन्हें आधुनिक सभ्य जगत् के विचारशील लोग सरलतापूर्वक समझने लगें, तो उस समय लोग और भी अधिक समृद्धिशाली, बुद्धिमान और भारतीय विचारों के मूल्य को समझने वाले हो जावेंगे। साल्टलेक शहर-निवासी मि० डवल्यू० डी० ब्राउन ने वैदिक साहित्य के बहुमूल्य होने के विषय में निम्न शब्दों में ठीक ही कहा है:—

"मुझे थोड़ी भी आशंका नहीं है कि हिन्दू साहित्य के ये अनुवाद आधुनिक जगत् को आश्चर्यान्वित कर देंगे और यह कि 'आधुनिक जगत् के लोग भारतवर्ष को १०० वर्ष में फूल लाने वाला पुष्पवृक्ष समझने लगेंगे, जिसे एक बार पूर्ण रूप से पुनः खिलता हुआ अपनी तज्जनित मधुर सुगंधि को चहुंदिशि बिखेरता हुआ देख इसकी डालियों में से एक पुष्प के भिक्षुक बनेंगे।"

प्रकृति

प्रकृति जगत् के उपादान कारण का नाम है। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, इस उदाहरण में कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और घड़ा कार्य्य है। इसी प्रकार जगत् की रचना का निमित्त कारण परमेश्वर, उपादान कारण प्रकृति और जगत् उसका कार्य्य है। वेद में ईश्वर और जीव के सिवा इसीलिये इस प्रकृति को भी नित्य कहा है:—

(१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखायासमानं वृक्षंपरिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ऋग्वेद १। १६४। २०

अर्थात् प्रकृति रूपी नित्य वृक्ष पर, ईश्वर और जीव रूपी दो पक्षी, आश्रित होते हुये रहते हैं। इनमें एक (जीव) उस वृक्ष के स्वादु फलों को खाता है, परन्तु दूसरा (ईश्वर) न खाता हुआ साक्षीमात्र हाकर रहता है।

(२) फिर दूसरी जगह ऋग्वेद ही में कहा गया है:—

न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि न राञ्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास ॥
ऋ० १०।१२९।२

अर्थात् उस समय (प्रलयावस्था में) न मृत्यु थी, न अमृत, न दिन और रात का ज्ञान था। सृष्टि के प्रथम वह एक ईश्वर (स्वधया) प्रकृति के साथ प्राण धारण कर रहा था और कुछ नहीं था, अर्थात् प्रकृति उस समय भी मौजूद थी। सायणाचार्य्य ने "स्वधा" का अर्थ माया किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में "मायां तु प्रकृतिं विधि मायिनं तु महेश्वरम्" माया को प्रकृति और महेश्वर को इस प्रकृति से काम लेने वाला (मायिन) कहा गया है।

वेद की शिक्षा यह है कि सृष्टि और प्रलय का चक्र दिन रात की तरह नित्य है; ईश्वर, पूर्व कल्पों की भांति, प्रकृति से जगत् की रचना किया करता है, जैसा कि ऋग्वेद में "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम कल्पयत्" कहा गया है, कि धाता (ईश्वर) ने पूर्व कल्प की तरह सूर्य, चन्द्र आदि को रचा है।

वेद और उपनिषदादि आर्ष ग्रन्थों में उपर्युक्त सिद्धान्त स्थल स्थल पर पुष्ट किया गया है।

शंकराचार्य्य और उनका मायावाद—प्रकृति के नित्यत्व का विरोध श्रीमान् शंकराचार्य्य ने करते हुये प्रकट किया है कि ईश्वर ही जगत् का अभिन्नेमितोपादान कारण है, अर्थात् कुम्हार भी वही है और मिट्टी भी वही है। इस वाद की पुष्टि के लिये, मुंडकोपनिषद में दिया हुआ मकड़ी का उदाहरण दिया जाता है:—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" मु०।१।१।७

अर्थात जैसे मकड़ी स्वयं अपने भीतर से जाला निकालती है और फिर उसे अपने ही भीतर रख लिया करती है, इसी प्रकार ईश्वर जगत् को अपने ही भीतर से उत्पन्न करके और फिर उसे (प्रलयावस्था में) ग्रहण कर लिया करता है; परन्तु उदाहरण मायावाद का समर्थक नहीं है। मकड़ी, जीव और शरीर दो वस्तुओं के संघात का नाम है। मरी हुई मकड़ी के अन्दर से जाला नहीं निकलता; मकड़ी के अन्दर जो अभिमानी जीव है वह अपने अधीनस्थ शरीर से जाला निकालता और पुनः उसे ग्रहण कर लिया करता है।

जगत् मिथ्या है—शंकराचार्य्य और इस संप्रदाय के अनेक उत्कृष्ट आचार्य्यों, वाचस्पति मिश्र और विद्यारण्यक स्वामी आदिकों, ने जगत् को मिथ्या बतलाते हुये प्रकट किया है कि रज्जु में सर्प और सीप में चाँदी आदि की सदृश जगत् की प्रत्येक

वस्तु केवल नामरूपात्मक है, इससे अधिक उसकी सत्ता कुछ नहीं है। परन्तु ये उदाहरण और उनसे निकाला हुआ परिणाम, दोनों ठीक नहीं हैं। उदाहरण में जैसा कहा गया है कि किसी को रज्जु में सर्प की और किसी को सीप में चांदी के भ्रम होने की संभावना हो सकती है, परन्तु कौन कह सकता है कि सर्प और रस्सी अथवा सीप और चांदी इनकी वास्तविक सत्ता नहीं हैं। इसलिये जब रज्जु भी सत्य और सांप भी सत्य तो जगत् मिथ्या किस प्रकार हो सकता है ?

शंकर के इस वाद में एक बड़ी त्रुटि है—संसार की किसी वस्तु को लो, उदाहरण के लिये एक सेव की कल्पना करो। सेव के देखने और उसे हाथ में लेने से दो बातों का ज्ञान होता है:— (१) सेव की शकल गोल है और उसका रंग सुर्खी माइल पीला सा है; (२) हाथ में लेने से यह जाना जाता है कि इस आकार और रूप के भीतर कोई वस्तु है जिसको हाथ में लेने से गुरुत्व का अनुभव होता है। कान्ट ने जहां पहली बात को बाह्यदृश्य (Appearance) कहा है, वहां दूसरी को वस्तु-तत्त्व (Thing in itself)। शंकराचार्य के मायावाद में सब से बड़ी त्रुटि यही है कि उसमें जहां वाह्य-दृश्य को नाम रूप कहा है, वहां वस्तुतत्त्व को बातों ही में उड़ा देने का यत्न किया गया है। संसार में प्रत्यक्ष केवल गुणों का हुआ करता है; गुणी को, जिसका नाम वस्तुतत्त्व है, तीन काल में भी कोई नहीं देख सका। इसका तात्पर्य यह है कि गुणी का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। शंकर

ने गुणी के प्रत्यक्ष न होने का अनुचित लाभ उठा कर उसे गतर-बूद ही कर देना चाहा है; परन्तु यह यत्न सफल नहीं हो सका। सेव के यद्यपि रूप और आकार ही को देखा जाता है, परन्तु हाथ में लेने से जब हम उसके गुरुत्व को अनुभव करते हैं, जो सेव का सेवत्व है, तो उसके लिये, यद्यपि हम उसे आंख से नहीं देखते हैं, यह कहना अनुचित न होगा कि उसे हमने त्वकेन्द्रिय से अनुभव किया, इसलिये वह वजन वाली चीज गायब किस प्रकार की जा सकती है। यदि यह कहो कि यह गुरुत्व नाम रूप ही का है तो यह सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वाह्यदृश्य लम्बाई, चौड़ाई या गोलाई बिना मुटाई के हुआ करती है; और जिस वस्तु में मुटाई न हो उसका वज़न हो ही नहीं सकता, इसलिये जगत् का मिथ्यात्ववाद, भ्रममात्र मृगतृष्णा से प्यास बुझाने की इच्छा के सदृश, तथ्यरहित है।

ऊपर की पंक्तियां इस बात के प्रकट करने लिये पर्याप्त हैं कि प्रकृति के सत्य पदार्थ होने में, किन्तु परन्तु करने की गुंजाइश नहीं है।

क्या प्रकृति अनादि नहीं है?—ईसाई और मुसलमानी मजहबों के अनुयायी कहते हैं कि जगत् एक ही बार बना है और बिगड़ जाने के बाद फिर नहीं बनेगा, इसलिये एक बार जगत् बनाने के लिये ख़ुदा ने, अन्य वस्तुओं के सदृश, प्रकृति को भी पैदा कर दिया अर्थात् उसे अभाव से भाव रूप में ले आया। परन्तु यह कथन युक्ति और प्रमाण रहित है, और तर्क के सामने नहीं

ठहरता। संसार में भाव से अभाव या अभाव से भाव का होना बतलाना प्रचलित विज्ञान के भी विरुद्ध है; जिसने परीक्षणों के आधार पर प्रकट किया है कि वस्तुओं की केवल सूरत बदला करती है, किसी वस्तु का भी अभाव नहीं हुआ करता। प्रकृति और शक्ति का संरक्षण (Conservation of Matter and Conservation of Energy) विज्ञान का अटल सिद्धान्त है। मुसलमानों के एक नवीन संप्रदाय वाले (अहमदी लोग) अब मानने लगे हैं कि जब से ईश्वर है तभी से जगत् बनता और बिगड़ता चला आता है, परन्तु हर उत्पत्ति के समय ईश्वर, जगत् और जीव दोनों को, अभाव से भाव रूप कर दिया करता है। इसलिये वे दोनों नित्य नहीं हैं। परन्तु ये सिद्धान्त जहां विज्ञान और तर्क, आदि सबके विरुद्ध है, वहां स्वयं उनके 'इल्मे कलाम' के भी विरुद्ध है। इसका विवरण नीचे उर्दू भाषा में ही दिया जाता है:—

عربی کے علم کلام میں اشیا کی حقیقت جاننے کے لئے اونہیں تین صورتوں میں تقسیم کیا ہے—

(۱) واجب الوجود— وہ شے جو تینوں کال میں رہنے والی ہو جیسے خدا—

(۲) ممکن الوجود— جو نہ ہو اور ہو جاوے جیسے دنیا—

(۳) ممتنع الوجود— جسکا وجود نہ ہو جیسے عنقا—

آگے چل کر ممتنع الوجود کو دو حصوں میں تقسیم کیا گیا ہے—

(۱) ممتنع الوجود لذاتہ (۲) ممتنع الوجود لغیرہ— ان میں سے ممتنع الوجود لذاتہ کو عدم مطلق ٹھہرایا گیا ہے اور ممتنع الوجود لغیرہ کو عدم مقید بالامکان—

اب سوال یہ ہے کہ ممتنع الوجود لغیرہ میں کوئی چیز ہونی
چاہئے جو اُسے عدم مطلق نہیں ہونے دیتی اور عدم متعد بالا مکان
ٹھہراتی ہے ورنہ دونوں ایک ٹھہریں گی اور یہ تمام کلام کو ماقلو نہیں—
ہم اُسی چیز کو مادہ کہتے ہیں—

अतः स्पष्ट है कि मुसलमानी मत का, प्रकृति को उत्पन्न और सादी मानना, स्वयं उसके इल्मे कलाम के विरुद्ध है।

क्या ईश्वर प्रकृति का मुहताज है?—एक और बात कही जाती है कि यदि प्रकृति को नित्य माना जायगा तो इससे ईश्वर, प्रकृति का, जगत् बनाने के लिये, मुहताज ठहरेगा; परन्तु इस आक्षेप का भी कोई मूल्य नहीं है। यदि मेरे पास धन न हो तो मैं उस (धन) का मुहताज हो सकता हूं; परन्तु धन होने पर, मैं उसका किस प्रकार मुहताज हो सकता हूं, यह विचारणीय है। यदि ईश्वर के आधीन उसके अधिकार और पूर्णाधिकार में प्रकृति न होती तब तो वह उसका मुहताज हो सकता था, परन्तु प्रकृति के होने और पूर्णतया उसके अधिकार में होने पर, ईश्वर भी प्रकृति का मुहताज नहीं हो सकता।

विज्ञान और प्रकृति की सत्ता—भौतिक विज्ञान में जो क्रान्तिपूर्ण परिवर्त्तन हुये हैं, उनके आधार पर विज्ञान के लिये प्रकृति को, जैसा अब तक समझा जाता रहा है, भविष्य में ऐसा समझना संभव प्रतीत नहीं होता। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान में हुये आविष्कारों के आधार पर, अब प्रकृति में, वेग की दृष्टि से विभिन्नता है, इसलिये अब प्रकृति नहीं बल्कि वेग (Force)

प्राकृतिक कार्य्य-प्रणाली को आधार-शिला है। अस्तु। इस प्रकार के अनेक लेख भौतिक-वैज्ञानिकों ने लिखे हैं और अब वे प्रकृति का स्थान वेग अथवा शक्ति को दे रहे हैं। इसका कारण और एक मात्र कारण यह है कि भौतिक विज्ञान के पास अभी तक सूक्ष्म भूतों के जानने, उनकी नाप-तोल करने के साधन नहीं हैं। अभी कल तक वे पंचभूतों में से एक भूत आकाश (ईथर) ही के जानने में असमर्थ थे; केवल उसकी कार्य्य-प्रणाली से उसका ज्ञान रखते थे। ईथर में ४० नील तरंगों के उठने से लाल और ८० नील तरंगों के उठने से बैंजनी रंग और इनके बीच में उठी हुई तरंगों से शेष रंगों का ज्ञान होता है। यदि ४० नील से कम या ८० नील से अधिक तरंगें उठें तो कुछ भी नहीं देखा जा सकता। परन्तु यह "आकाशीय तरंग प्रथा" (Vibratory movement in ether) क्या है और किस प्रकार अपना काम करती है, इसको वैज्ञानिक नहीं जानते थे। फिर ऐसे अधूरे भौतिक विज्ञान से यह आशा करना कि वह सूक्ष्म भूतों, पंचतन्मात्रा, अहंकार और महत्तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके उनकी नाप-तोल करले, क्लिष्ट कल्पना मात्र है। अभी वर्षों लगेंगे जब वैज्ञानिक शायद मस्तिष्क की कार्य्य-प्रणाली समझ सकेंगे, अन्यथा जोजेफ् मिकेव के कथनानुसार इस अंधेरी कोठरी (मस्तिष्क) में विज्ञान के टिमटिमाते हुये दीपक, देखने वालों की आँखों में, चकाचौंध पैदा करके उस कोठरी के रहस्य समझने में और भी उलझन पैदा कर रहे हैं। यदि केवल शक्ति को प्रकृति की उपेक्षा करके

माना जायगा तो शक्तिमान् तथा शक्ति के आधारत्व के सम्बन्ध में इतने प्रश्न पैदा होंगे जिनका सुलझाना भौतिक विज्ञान के लिये सुगम काम न होगा। अस्तु, प्रकृति नित्य है, वही जगत् का उपादान कारण है, उसीसे यह जगत् बना करता है, उसकी सत्ता स्वीकार किये बिना प्रवाह से नित्य संसार की समस्या-पूर्ति नहीं हो सकती।

प्रकृतिवाद या साँख्यवाद

सांख्य शास्त्र महा प्रासाद प्रकृतिवाद के सुदृढ़ स्तम्भों पर आश्रित है, उसके बिना यह मत कुछ भी नहीं। इनके मत में प्रकृति, विकृति, प्रकृति विकृत्युभयभिन्न, इस प्रकार से पदार्थों की चार कोटियाँ हैं। जिनमें 'प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिः' अर्थात् जो प्रकर्ष के साथ कार्यों को उत्पन्न करे, उसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति में जो प्रकर्ष है वह "तत्वान्तरारम्भकत्व" रूप है। यद्यपि पृथिव्यादि विकारों से भी कार्य उत्पन्न होते हैं, पर वे तत्त्वान्तर रूप नहीं किन्तु पृथिव्यादि रूप ही होते हैं। तत्त्वान्तरारम्भकत्व रूप प्रकृतित्व, प्रधान, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा रूप आठ तत्त्वों

में रहता है। प्रधान त्रिगुणात्मक है—सत्व, रज, तम नाम के ३ तीन गुण हैं, और वे तीनों प्रकृति में साम्यावस्था से रहते हैं, अतएव यह रज है, यह तम है, या सत्व है इस प्रकार का व्यवहार भी उनमें नहीं किया जा सकता, इसीलिये वे तीनों तीन तत्त्व नहीं हैं किन्तु एक ही तत्त्व कहलाता है। यह तीनों गुण द्रव्य रूप हैं, क्योंकि महदादि के उपादान कारण हैं, और संयोग-विभागाश्रय हैं। इनके गुण व्यवहार का कारण पुरुष-आत्मा के प्रति गौणपना (गुण भूतत्त्व) है, यह ध्यान रखना चाहिये कि जैसे गन्धगुण वाली पृथिवी गन्ध से व्यतिरिक्त है, उसी प्रकार सत्वादि गुणवती प्रकृति इनसे व्यतिरिक्त नहीं है, क्योंकि सत्वादि प्रकृति के धर्म नहीं हैं, किन्तु प्रकृति रूप हैं जैसा कि सूत्रकार लिखते हैं—"सत्त्वादीनामतद्धर्मं त्वं तद्रूपत्वात्" इति। "प्रकृति के सत्त्वादि गुण हैं" यह व्यवहार "राहोः शिरः" या "वन के पेड़" इसके समान समझना चाहिये।

"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः" १४।५

इस गीता वाक्य में प्रकृति स्वरूप भूत गुणों का ग्रहण नहीं है, किन्तु वैषम्यावस्था को प्राप्त हुए महत्तत्वादि के कारणीभूत गुणों का ग्रहण है। अतः विरोध नहीं। सत्व, रज, तम आदि प्रत्येक अनन्त हैं। तथा अणु विभुरूप हैं, मध्यम परिणाम वाले नहीं हैं। इनका सजातीय संवलन होने पर लघुत्व, चलत्व, उपष्टम्भकत्वादि प्रतीत होते हैं। यही वैषम्यावस्था है। इन वैषम्या-वस्थ तीन गुणों को पृथक् मानकर कुछ लोग २८ तत्त्व भी मानते हैं

सत्व = लघु, सुखकारक और प्रकाशक है। रज = दुःख रूप, कालुष्य और प्रवृत्तिशील है। तम = मोहरूप आवरण तथा स्तम्भनकारी है। धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सत्व को सुखात्मक भी कह देते हैं। यह प्रकृति अनुमान से सिद्ध की जाती है। अनुमान का प्रकार निम्नलिखित है। गो घटादि कार्य, सुख दुःख मोह स्वरूप द्रव्य से उत्पन्न होते हैं, कार्य होते हुए सुख दुःख मोहात्मक होने से, वस्त्रादि से बनाई हुई शय्या की तरह। कदाचित् कहो कि सुख दुःखादि तो मानस धर्म हैं पृथिवी वस्त्रादि के धर्म नहीं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि मन के अन्दर रहने वाले सुख-दुःख यह सिद्ध करते हैं कि मन का सुख दुःख स्वरूप है। इस प्रकार परम्परा से मूल प्रकृति को सुख दुःखान्वित मानना पड़ेगा। तथा मन की तरह घटादि को सुख दुःखादि युक्त मानना चाहिये। किंच घट का रूप है पट का रूप है, इस प्रतीति की तरह चन्दन का सुख, स्त्री का सुख यह प्रतीति भी होती है, अतः विषयों में सुखादि मानने चाहिये। जैसा कि लिखा भी है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

२—उक्त आठ तत्त्वों में दूसरा तत्त्व बुद्धि है। इसको ही महत् भी कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन रूपी अन्तःकरण वृक्ष की बुद्धि अङ्कुरावस्था है। अध्यवसाय (निश्चय) वृत्ति वाला अन्तःकरण बुद्धि कहाता है। अभिमान वृत्ति वाला अहंकार। संकल्प-विकल्प

वृत्ति वाला मन। यह बुद्धि सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार की है।

३—यह नियम है कि विना सामान्य ज्ञान के विशेष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। अतः सामान्यभूत बुद्धि तत्त्व से विशेष-भूत बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अहन्ता और इदन्ता यह दोनों बुद्धि विशेष हैं। अहन्ता के विना इदन्ता की उत्पत्ति नहीं होती। अतः सब से प्रथम "अहम्" तत्त्व (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। जो कि तृतीय तत्त्व है। यह भी बुद्धि तत्त्व की तरह तीन प्रकार का है—सात्विक, राजस और तामस। सात्विक अहंकार को वैकारिक भी कहते हैं। राजस = तैजस तथा तामस = भूतादि कहा जाता है। सात्विक अहंकार से ११ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन यह ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। केवल तैजस से कुछ नहीं होता वह शेष दोनों का सहायक रहता है। शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्ध-तन्मात्रा यह पाँच तन्मात्राएँ हैं। निर्विशेष शब्द, गन्धादि के आश्रय सूक्ष्म पञ्चमहाभूत तन्मात्रा शब्द से कहे जाते हैं। और विशेष प्रत्येक में अलग अलग रहते हैं—जैसे शब्द में उदात्त अनुदात्तादि तथा निषाद ऋषभादि। स्पर्श में शीतत्व, उष्णत्व मृदुत्वादि। रूप में शुक्लत्व नीलत्वादि। रस में मधुरत्वादि। गन्ध में सुरभित्वादि। इन पाँच सूक्ष्म भूतों से आकाश वायु आदि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ११ इन्द्रियाँ, ५ पञ्चतन्मात्रा,

३ प्रकृति, महत्, अहंकार और ५ महाभूत इस प्रकार २४ तत्त्व हैं। २५वाँ पुरुष = आत्मा है। जीवात्मा से अतिरिक्त परमात्मा नाम की कोई वस्तु उनके मत में नहीं है। आत्मा अनन्त हैं जैसा कि सूत्रकार लिखते भी हैं। "जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष ब्रहुत्वम्" ६।४५ इति। वैशेषिक मत में माने गये द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समनाम, अभावनामक सात पदार्थों का इन ही तत्त्वों में अन्तर्भाव है। तथाहि–६ द्रव्यों में से पाँच तो हम भी मानते ही हैं। अत्मा २५वाँ तत्त्व है। दिशा और काल आकाश स्वरूप हैं। जैसा कि सूत्रकार लिखते हैं—"दिक्काला वा काशादिभ्यः" २।१२ इति। गुण, कर्म, सामान्य द्रव्य स्वरूप हैं। क्योंकि धर्म और धर्मी में भेद नहीं है। विशेष और समवाय नामक पदार्थों को हम मानते ही नहीं हैं। अभाव भाव रूप ही है—जैसे घट प्रागभाव मृद्रूप है। घटध्वंस-कपालरूप है। घटात्यन्ता भाव केवलाधिकरण रूप है। घटान्योन्या भाव पाटादि रूप है। इनके मत में सृष्टि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

अव्यक्त नाम की मूल प्रकृति प्रवृत्तिशील है, स्वतन्त्र है। वह स्वयं क्षोभ को प्राप्त होती है, तथा नारायण नामक जीव विशेष से संयुक्त होती है। तदनन्तर वही प्रकृति न्यूनाधिक भाव से स्व-सजातियों से मिलकर महत्तत्व को उत्पन्न करती है। कदाचित् कहो कि पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग नहीं हो सकता क्योंकि वह असङ्ग है, श्रुति कहती है कि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" तो यह

कहना ठीक नहीं क्योंकि विकार जनक संयोग को ही हम संग कहते हैं। नारायण में कोई विकार नहीं होता क्योंकि भगवान् गीता में कहते हैं "पद्मपत्र मिवाम्भसा ५।१०" महत्तत्व चेतन तथा अचेतन दो रूप वाला है अचेतन रूप मुख्य है—चेतन रूप संयोग जन्य गौण है। निर्विशेष जीवों की समष्टि को "ब्रह्म" कहते हैं। सविशेष समष्टि को स्वयम्भू कहते हैं। विशेष उपाधि से उत्पन्न होता है-लिङ्ग शरीर का नाम उपाधि है। बुद्धि, अहंकार, मन १० इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्राएँ इस प्रकार १८ चीजों का लिङ्ग शरीर होता है। बुद्धि और अहंकार को एक मानने से १७ वस्तुओं का भी लिङ्ग शरीर कहा जाता है। प्राण बुद्धि वृत्ति का ही भेद है। क्योंकि आत्म चैतन्य की अभिव्यक्ति प्राणों में ही होती है। स्थूल शरीरोपाधि वाले स्वयम्भू को ही नारायण कहते हैं। महत्तत्व से उत्पन्न अहंकार महत्तत्व का दसवाँ हिस्सा है। इसी प्रकार तन्मात्राएँ भी दसवें हिस्से में हैं। तथा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, क्रमशः दस-दस हिस्से कम हैं और पूर्व पूर्व से उत्पन्न हैं। यह पृथिवी स्थूल शरीर का कारण है। और "अण्ड" रूप में परिणत होती है। इस पृथिवी का दसवाँ हिस्सा १४ भुवन हैं, और यही स्वयम्भू का स्थूल शरीर है। तन्मात्रा और इन्द्रियों को उत्पत्ति में क्रम का नियम नहीं है, और न इन्द्रियों में ही क्रम है। पर तन्मात्राओं की उत्पत्ति में क्रम जरूर है। पहले पहल तामसाहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है, उसके बाद शब्द तन्मात्रा सहित तामसा-

हंकार से शब्द स्पर्श गुण वाली स्पर्श तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। उस स्पर्श तन्मात्रा के सहित तामसाहंकार से शब्द स्पर्श रूप गुण वाली रूप तन्मात्रा उत्पन्न होती है। ऐसे ही आगे भी जानो। इस प्रकार यह सारा प्रकृति का ही प्रपञ्च है। संक्षेपतः दोही प्रकार का तत्त्व है चित् तथा अचिन् रूप। इसके भेद ज्ञान से पुरुष को मुक्ति प्राप्त होती है। भेद ज्ञान के लिये ही प्रकृति परिणाम भूत महादादि तत्त्वों को शास्त्र में बतलाया गया है। अन्यथा सम्यक्तया भेद ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रकार प्रक्रित पुरुष के अविवेक से संसार तथा विवेक से मोक्ष होता है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति का अनुमापक सत्कार्य वाद भी है—सत्कार्य वाद की सिद्धि में "असद करणादुपादान ग्रहणात्" इत्यादि

९ वीं कारिका में अनेक युक्तियें दी हैं, जिनका विवरण हम यहाँ विस्तार भय से नहीं करते हैं। वाचस्पत्य टीका तत्त्व कौमुदी में वहीं देख लेनी चाहिये। साथ ही उसमें अनुक्त यह युक्ति भी जानिये—जो वस्तु असत् होती है वह उत्पन्न नहीं होती जैसे खरे के सींग। यदि कार्य असत् होता तो वह भी शश-विषाण की तरह उत्पन्न या अभिव्यक्त न किया जाता पर किया जाता है, अतः कार्य की सत्ता अनुमित होती है। दूसरी बात यह भी है कि यदि कार्य असत् उत्पन्न होता है तो कारकात्मकत्व जैसे तन्तुओं पर है वैसे कुविन्द (जुलाहे) पर भी है फिर यह क्या बात है कि पटादि तन्त्वाद्यात्मक ही होते हैं कुविन्दाद्यात्मक नहीं। अतः

कार्यसत् है। तीसरी बात यह भी है कि असत् पटादि तन्त्वा-दियों में ही क्यों हैं—कट के कारण वीरण में क्यों नहीं हैं। क्यों कि असत्ता में तो कोई विशेषता है ही नहीं। चौथी बात यह है—कि अशक्त से अशक्य कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये शक्त से ही उत्पत्ति माननी होगी-और शक्ति सम्बन्ध रूप है अतः संयोग के समान शक्त और शक्य दोनों में रहने वाली शक्ति विना शक्य की सत्ता मानें कहाँ,वह कहाँ रह सकती है। पाँचवी बात यह है कि कारण कार्योपहित मर्यादा वाला होता है। विना कार्य की सत्ता मानें कारण का उपधान वह नहीं कर सकता, अतः कार्य की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह सांख्य सेश्वर तथा निरीश्वर भेद से दो प्रकार का है। क्यों कि सांख्य सूत्रकार कहते हैं कि—"ईश्वरा सिद्धेः" अर्थात् ईश्वर की सिद्धि नहीं है। पर स्व० स्वामी दर्शनानन्दजी इस सूत्र का अर्थ यह करते हैं कि ईश्वर की प्रत्यक्ष से सिद्धि नहीं होती, अर्थात् अनुमान से होती है। हमें इस लेख के लिखने में श्री० पं० काशीनाथजी तथा श्री० पं० वासुदेवजी ने ग्रन्थ इकट्ठे करने में सहायता की है अतः उनका धन्यवाद करते हैं। पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि भगवान् कृष्ण ने गीता में—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेवच।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥७।४

इस प्रकार ८ प्रकार से प्रकृति को विभक्त किया है। तथा

सांख्य शास्त्र और योग शास्त्र दोनों का सिद्धन्त एक ही है क्यों कि शास्त्रकार कहते हैं—

"साँख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" इति।

इस प्रकार प्रकृति का निरूपण हम ने यहाँ अपने संक्षिप्त निबन्ध में संक्षेप रूप से कर दिया है, आशा है जिज्ञासु जनों को इससे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा।

* इति शुभम् *